प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामंडी, आगरा।

प्रथम बार
मई १९५७
मूल्य दो रुपया

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस,
राजामंडी, आगरा।

प्रकाशक की ओर से

सुख, शान्ति और आनन्द-मानव मन की साध है, जिसे आज का विज्ञान युग का मानव भी झूठला नही सकता, भूला नहीं सकता। परन्तु वह सुख और शान्ति है कहाँ ? यह प्रश्न आज भी प्रश्न ही बनकर खड़ा है।

आज मानव जी रहा है, सुख शान्ति एवं आनन्द की मधुर कल्पना लेकर। किन्तु उसकी मानवता मर रही है--इस अणु युग की स्वार्थान्ध भावनाओ के वात्या चक्र के कारण विज्ञान और कला के लुभावने दावों से मानव निराश होकर आज देखने लगा है, फिर से अपने अन्तरतर से उद्भूत होने वाले धर्म और संस्कृति की ओर। धर्म और संस्कृति की आराधना एवं साधना मे मानव जीवन अपने सहज प्रवाह, अभिवृद्धि और विकास को प्राप्त कर सकेगा, इसमे जरा भी शंका को अवकाश नही है।

मुझे हर्ष होता है, कि सन्मतिज्ञान पीठ के अभिनव प्रकाशन इसी भावना के अनुरूप जन चेतना के पट पर आ रहे है। उसके सुन्दर प्रकाशनो की शृंखला की एक कड़ी प्रेम सुधा के रूप मे जीवन के लिए प्रेम का मधुर सन्देश प्रिय पाठको के हाथों मे है।

प्रेम-सुधा का यह चतुर्थ भाग है। पहले के ३ भाग क्रमश. रतलाम, जोधपुर और ब्यावर से प्रकाशित हो चुके हैं। सन्मति ज्ञान पीठ अपनी ओर से प्रेम-सुधा का चतुर्थ भाग प्रकाशित करके जहाँ एक ओर वह सत्साहित्य की सेवा कर रही है, वहाँ वह एक तेजस्वी व्यक्तित्व का समादर भी कर रही है। प्रेम-सुधा अमृतमय प्रेम का सन्देश लेकर जन जागरण मे नवो-त्थान का बिगुल बजा सकेगी-इसका मुझे पूरा-पूरा विश्वास है।

श्रद्धेय, जैनधर्म भूषण, पंजाब केशरी श्री प्रेमचन्द्रजी महाराज के भाषणों का यह एक सुन्दर संकलन व सम्पादन है। जिन लोगों ने साक्षात् उनके प्रवचनों को सुनने का महा लाभ लिया है, उनके अतिरिक्त जिन्होंने कभी उनके प्रवचन नही सुने, केवल नाम ही सुना है, उनके लिए भी यह प्रकाशन प्रेरणा का स्रोत सिद्ध होगा।

श्रद्धेय पंजाब केशरी जी महाराज के भाषणों में जो माधुर्य, ओजस् और आनन्द है, वह कहने की वस्तु नहीं। प्रेम सुधा के अध्येता स्वयं इस सत्य का अनुभव करेंगे। अध्येता इसमे से सुख शान्ति और आनन्द का राज-मार्ग भी पा सकेंगे।

सन्मति ज्ञान पीठ ने इसी भावना के प्रसार और प्रचार के लिए प्रेम-सुधा का प्रकाशन किया है।

स्था० वा० जैन समाज मे राजकोट का संघ अपना एक प्रमुख स्थान रखता है। संघ की धर्म भावना तथा संगठन शक्ति चिरागत प्रशंसनीय रही है। श्री पंजाब केशरी जी का सन् ५४ का चातुर्मास राजकोट में ही हुआ था। यह प्रवचन संग्रह उसी चातुर्मास की अमर देन है।

राजकोट संघ ने जिस प्रेम भाव के साथ प्रवचनों का संग्रह एवं पं० शोभाचन्द जी भारिल्ल से संपादन कार्य कराया है, एतदर्थ हम श्री संघ के हृदय से आभारी हैं।

३-५-५७

विजयसिंह दूगड़
मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

प्रे

म

सु
धा

विषय-सूची

: १ :

गुणपूजा

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ॥

धर्म प्रेमी भद्र पुरुषो ! तथा बहिनों !

वीतराग, प्रभु, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा की स्तुति करना प्रत्येक आत्मा का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा के गुणों का कीर्त्तन एव स्तवन करना मनुष्य का कर्त्तव्य क्यों है ? स्तुत्य अर्थात् परमात्मा और स्तोता अर्थात् स्तुति करने वाले मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? स्तुत्य की स्तुति स्तोता को किस प्रकार लाभदायक होती है ? इस स्तुति का प्रयोजन क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। वास्तव मे इन सब प्रश्नो को भली-भाँति समझ लेने पर ही परमात्मा की स्तुति से परिपूर्ण लाभ उठाया जा सकता है। मगर इनमे से एक-एक प्रश्न ही बहुत विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, फिर समस्त प्रश्नों का तो कहना ही क्या है। प्रवचन के इस परिमित समय में सभी प्रश्नों पर पर्याप्त प्रकाश नही डाला जा सकता। तथापि कुछ सूचक संकेत दिये जा सकते हैं, एक संक्षिप्त-सी रोशनी डाली जा सकती है। उन संकेतो के सहारे और उस रोशनी के उजाले मे आप सुखपूर्वक अग्रसर हो सकते है। मेरे संक्षिप्त वक्तव्य को आधार बना कर आप अपनी

विशेष जिज्ञासाओं को हल करने का मार्ग पा सकते है। विद्वान् संत जनो की संगति एव उपासना से भी भक्ति मार्ग के रहस्यो को समझा जा सकता है।

स्तुति का स्थान बहुत ऊँचा है। इसका कारण यह है कि स्तुति, यदि वह निष्काम एवं विशुद्ध भाव से की जाय तो स्तोता को स्वयं स्तुत्य के रूप मे परिणत कर देती है।

कहा जा सकता है कि स्तोता, स्तुत्य किस प्रकार वन सकता है ? स्तुत्य परमात्मा है और स्तोता आत्म-ससारी जीव या मानव होता है। दोनो की हालतो मे बहुत बड़ा अन्तर है। एक इस छोर पर है और दूसरा उस छोर पर है। इस विशाल-तर अन्तर को, इस चीनी दीवार से भी बड़ी दीवार को किस तरह पार किया जा सकता है ? किन्तु इसी में तो स्तुति का महत्त्व है। अगर इतने वड़े अन्तर को दूर कर देने की क्षमता स्तुति में न होती तो उसकी इतनी बड़ी महिमा ही क्यो होती ?

स्तुत्य और स्तोता मे अर्थात् परमात्मा और आत्मा में, अथवा भगवान् और भक्त मे नि सन्देह बहुत अन्तर है, फिर भी वह अन्तर ऐसा नहीं कि मिटाया न जा सके। भारत के और यूरोप के कई दर्शन ऐसे हैं, जिन्होने परमात्मा की एक पृथक् ही सत्ता स्वीकार की है। उनके मत के अनुसार पर-मात्मा एक अद्वितीय, अनादि और असाधारण है। उसकी जाति ही निराली है। कोई आत्मा सच्चे हृदय से उसकी भक्ति करता रहे, असख्य जन्मो तक उसे रिझाने की कोशिश करता रहे, कितनी ही उच्च-कोटि के सदाचार का सेवन करे, तपश्चरण करे, साधना के लिए अपने आपको समर्पित कर दे, मगर वह परमात्मा नही बन सकता। परमात्मा बनना उसके भाग्य में

है ही नहीं। उनके कथनानुसार जीव में वह शक्ति ही नहीं है कि वह ईश्वर का दर्जा पा सके। जैसे जड मे चेतन बनने की सामर्थ्य नही, चेतन कभी अचेतन नही बन सकता, उसी प्रकार आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति नही; तासीर भी नही है।

मगर जिनेश्वर देव का धर्म इस प्रकार की निराशाजनक, उत्साह को भग कर देने वाली और आत्मा के अनत विकास की सम्भावनाओं को सदा के लिए समाप्त कर देने वाली बात नही कहता। जैन-धर्म का परमात्मा, परमात्मपद पर अपनी मोनो पोली—अपना एकाधिपत्य—स्थापित नहीं करता। वह प्राणी मात्र के समक्ष चरम से चरम विकास की शक्यता प्रतिपादित करता है और प्रत्येक को यह अधिकार देता है कि तुम चाहो तो साधना के बल पर परमात्मा का परम पद प्राप्त कर सकते हो।

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा, परमात्मा के पद का अधिकारी हो सकता है; इसका कारण यह है कि जाति मूलत एक ही है। जैसे जड और चेतन में जाति की भिन्नता है और इस कारण दोनो मे से कोई भी एक, दूसरे के रूप में परिणत नही हो सकता, जड़ सदा जड़ ही रहता है और चेतन सदा चेतन ही रहता है, वैसे आत्मा और परमात्मा में जाति-भेद नही है। क्या परमात्मा और क्या आत्मा, दोनो ही एक जीव-जाति के अङ्ग है। उनके असली गुणो मे मूलत कोई भेद नही है। दोनों का एक ही स्वभाव है। फिर भी दोनां में जो भिन्नता है, वह केवल विकास और अविकास की ही भिन्नता है। आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास—परिपूर्ण विकास हो जाना, उपाधि के कारण आये हुए विकारो का पूरी तरह नष्ट

हो जाना, चेतनाशक्ति का अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाना और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अक्षय अव्याबाध सुख का आविर्भाव हो जाना, यही परमात्मा का स्वरूप है। यही सब गुण प्रत्येक संसारी प्राणी में शक्ति रूप में विद्यमान हैं। मगर उन पर आवरण छाये हुए हैं। आवरणों के कारण वे प्रकट नही हो पाते। इसी कारण जीव अल्पज्ञ, अल्पदर्शी और दु.खी है। यही आवरण परमात्मा और आत्मा के बीच अन्तर डालने के कारण हैं। जिस आत्मा ने अपने आवरणो को सर्वथा समाप्त कर दिया, बस वही परमात्मा बन गया।

जैन-धर्म का यह सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण है, कितना प्रेरणा-प्रदायक है, कितना साहस देने वाला है और कितनी स्फूर्ति इससे मिलती है, यह कहने की आवश्यकता नही। जब किसी साधक के अन्त करण में यह भावना बद्धमूल हो जाती है कि —

यः परमात्मा स एवाहं,
योऽहं सः परमस्ततः।

अर्थात्—जो परमात्मा है, वही मै हूँ और जो मै हूँ वही परमात्मा है, तो उसकी नस-नस में, रग-रग में, अग-अंग मे अद्भुत क्षमता एवं स्फूर्ति दौड़ने लगती है। वह अपने आन्तरिक शत्रुओ के साथ संघर्ष करने की और उन्हे परास्त करने की महान् शक्ति अपने मे अनुभव करने लगता है। उसके वीर्य मे उल्लास आता है, उसके पराक्रम में प्रचण्डता आती है, उसकी भावना मे प्रबल बल आ जाता है, उसकी निष्ठा में दृढ़ता और स्थिरता आ जाती है।

जैन-धर्म मे ऐसे अनेकानेक सुनहरे सिद्धान्त हैं, मगर उन्हें जब सुना जाय और समझा जाय तब उनका बोध हो।

हाँ, तो प्रकरण स्तुति का है। स्तुति का वास्तविक तत्त्व और महत्त्व को समझने के लिए इतनी भूमिका को समझ लेना आवश्यक था। इस विवेचन से आपकी समझ मे आ गया होगा कि आज जो स्तोता—स्तुतिकर्त्ता—है, वह किसी समय स्वय स्तुत्य बन सकता है। स्तोता को स्तुत्य बना देने की जो विधि है, कला है, जो माध्यम या साधन है, वही स्तुति है।

स्तुति के माध्यम से स्तोता किस प्रकार स्तुत्य बन जाता है, किस प्रकार वह आराधक को आराध्य के रूप मे परिणत कर देती है, यह भी समझने की बात है।

स्तुति उसी की की जाती है, जिसके प्रति अन्त करण मे भक्ति का भाव होता है। और भक्ति उसके प्रति होती है, जिसके सद्गुणों को स्पृहणीय माना हो। सारांश यह कि जो जिसके गुणो को उत्तम, ग्राह्य, कल्याणकारी और अपने जीवन मे प्राप्त करने योग्य समझता है, उसी के प्रति उसके मन मे भक्ति का भाव जागृत होता है। हृदय मे जब भक्ति जागती है, प्रेम प्रबल हो उठता है और तीव्र आकर्षण उत्पन्न होता है, तब बिना ही किसी प्रेरणा के, स्वयं ही स्तुति के शब्द जिह्वा से फूट पड़ते हैं। इस प्रकार की स्तुति और भक्ति जब भक्त के चित्त मे स्थायी रूप ग्रहण कर लेती है, तब भक्त जीव निरन्तर अपने स्तुत्य के भजन, ध्यान, चिन्तन और निदिध्यासन में तल्लीन बना रहता है। उसकी तल्लीनता का फल यह होता है कि उसके चित्त की मलीनता मिट जाती है, आत्मा विशुद्धता की राह पर आगे बढ़ती है, विकार एक-एक करके दूर भागने लगते हैं। अन्तत ऐसी स्थिति आ जाती है कि भक्त सर्वथा निर्विकार, निर्मल, विशुद्ध और परम प्रकाशपुञ्ज बन जाता है। यह स्तुति की महिमा है, यह स्तुति का प्रभाव है।

यद्यपि आत्मोत्थान के अन्यान्य साधन भी हो सकते है, पर-स्तुति रूप साधन मे यह विशेषता है कि इसे सभी लोग सहज रूप से अपना सकते हैं। यही नही, आत्म-शुद्धि के लिए कोई भी दूसरा साधन अपनाया जाय, उसमे स्तुति का भी कुछ न कुछ हिस्सा होगा ही। स्तुति रूप साधन सभी साधनो में न्यूनाधिक रूप मे विद्यमान रहता ही है।

स्तुति गुणों की की जाती है। मगर गुणो के लिए यह नियम है कि वे गुणी के बिना नही रह सकते। गुण और गुणी मे अभेद सम्बन्ध है। जैन परिभाषा में उस सम्बन्ध को कथंचित तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। अतएव जब गुणों की स्तुति की जाती है तो वह गुण जिस व्यक्ति मे होते हैं, वह व्यक्ति भी हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार गुणी, गुणो का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति का जो भी महत्त्व है, वह उसमे पाये जाने वाले गुणों के कारण ही है। कहा भी है—

गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

अर्थात्—गुण ही पूजा के पात्र होते हैं। वेष अथवा वय के कारण ही कोई पूज्य नही हो जाता।

गुण-विहीन जीवन का कोई मूल्य नही। किसी ने साधु का वेष पहन लिया है, परन्तु साधु के गुणो को अपने जीवन मे स्थान नहीं दिया तो उसका वेष स्व-परवचना मात्र है। किसी ने ठीक ही कहा है—

विक्रीयन्ते न घन्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिता।

जो गाये दूध नही देती, उनके गले मे भले बड़े-बड़े घंटे

लटकते हों, मगर वे दुधारू गायो का मूल्य नहीं पा सकतीं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने गुणो के कारण ही महत्त्व प्राप्त करती है। यही कारण है कि स्तुति मे गुणों का ही उल्लेख किया जाता है अथवा यो कहना चाहिए कि गुणो की ही स्तुति की जाती है।

गुण और गुणी के विपय मे हमारे यहाँ के चिन्तनशील दार्शनिको ने विचार किया है। गुण और गुणी मे परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर विभिन्न मत है। कोई गुण और गुणी को सर्वथा भिन्न मानता है तो कोई सर्वथा अभिन्न कहता है। किन्तु यह दोनों ही अनेकान्त तर्क-संगत नही है। गुण यदि गुणी से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो वह गुण अमुक गुणी का है, किसी दूसरे का नही है, इस प्रकार की कल्पना का कोई आधार ही नही रह सकता। उदाहरणार्थ—आत्मा गुणी है और चेतना उसका गुण है। अब यदि दोनो मे सर्वथा भिन्नता है, चेतना गुण आत्मा से उतना ही भिन्न है, जितना किसी जड़ वस्तु से भिन्न है, तो किस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चेतना, आत्मा का ही गुण है; जड़ का गुण नही है? अगर दोनो मे सर्वथा भेद होने पर भी चेतना आत्मा का ही गुण मान लिया जाय तो जड़ का गुण भी क्यो न मान लिया जाय? इस प्रकार विचार करने पर गुण-गुणी का सर्वथा भेद किसी भी तरह संगत नहीं बैठता।

कदाचित् गुण और गुणी मे एकान्त अभेद मान लें तो भी अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। एकान्त अभेद का फलितार्थ यह है कि जो गुणी है वही गुण है और जो गुण है वही गुणी है। अगर यह सत्य है तो दोनों एक ही वस्तु ठहरते

हैं। फिर गुण और गुणी में जो भेद किया जाता है, वह गलत ठहर जायगा। दोनों पदार्थ ही नहीं रहेंगे और जब दो पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेंगे तो उनमे भेद और अभेद का विचार करना ही असगत होगा।

इस प्रकार यह दोनो ही एकान्तवाद सही नही हैं। वास्तव मे गुण-गुणी मे न तो एकान्त भेद है और न एकान्त अभेद ही है; बल्कि कथचित् भेद है और कथंचित् अभेद भी है। तत्त्व की बात यह है कि अनन्त-अनन्त गुणो का, कभी खडित न होने वाला पिण्ड ही द्रव्य कहलाता है। द्रव्य अंशी है और गुण उसका अंश है। अंश और अशी को न सर्वथा भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न ही माना जा सकता है। संभव है, यह चर्चा आपकी समझ मे न आ रहा हो। अतएव इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दे देना अधिक उपयुक्त होगा।

एक बीमार आदमी वैद्य के पास जाता है। उसे वैद्य गोलियाँ देता है। वह गोलियाँ दस चीजों की बनी हुई हैं। दस दवाइयों को बारीक पीस कर, कपड़े में छान कर, वैद्य ने गोलियाँ तैयार की हैं। अब यह विचार कीजिए कि गोली, उन दस दवाओ से, जिनके सम्मिश्रण से वह बनी है, सर्वथा भिन्न वस्तु है अथवा अभिन्न है? यदि दसो दवाएँ गोली से भिन्न हैं, तब तो गोली मे उनका असर नही आना चाहिए। गोली नामक ग्यारहवीं वस्तु की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। मगर ऐसा स्वीकार कर लेना क्या उचित है? वास्तव मे गोली का कोई अलग अस्तित्व नही है। अगर किसी यत्र के द्वारा उन दसों दवाओं को अलग-अलग किया जा सके तो गोली

का अस्तित्व कहाँ रह जायगा ? और जब उन दवाओं का सम्मिश्रण नही किया था, तब गोली की सत्ता कहाँ थी ? इस प्रकार विचार करने से गोली की पृथक् सत्ता नहीं बनती। अगर उसका अस्तित्व एकान्त अपृथक् मान लिया जाय तो दस मे से प्रत्येक दवा मे उस गोली का असर मानना पड़ेगा। मगर ऐसा कभी होता नही।

तो दवाइयों की गोली, दवाइयों से किसी लिहाज से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसी प्रकार गुण और गुणी भी आपस में कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न हैं। विभिन्न गुणों का समूह ही द्रव्य—या गुणी कहलाता है। कहा भी है—'गुणसमुदायो द्रव्यम्'। दूसरे शब्दों मे यो कहा जा सकता है कि गुण अंश है और गुणी या द्रव्य अंशी है। अंशी अपने अंशो से न सर्वथा भिन्न होता है, न सर्वथा अभिन्न होता है।

गुण दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वाभाविक या आत्मभूत और (२) वैभाविक या अनात्मभूत।

जो गुण, द्रव्य के असली है, अपने हैं, स्वभाव से ही हैं, किसी बाहरी वस्तु के प्रभाव से उत्पन्न नही हुए हैं, वे आत्मभूत गुण कहलाते हैं। जैसे आत्मा की अपनी निजी सम्पत्ति ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण स्वाभाविक हैं। यह गुण आत्मा की भाँति अनादि अनन्त है और किसी बाह्य कारण से आत्मा मे उत्पन्न नही हुए है। ऐसा नही है कि आत्मा पहले अचेतन था, फिर किसी कर्म के उदय से वह चेतनावान् अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय उपयोग वाला बन गया। चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वह सदा से है, सदा ही रहेगा। कभी

इस गुण का विनाश नही होता। यहाँ तक कि निगोद की अवस्था मे भी, जो जीव की निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था है, अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान का अश विद्यमान रहता है। यह बात दूसरी है कि कर्मों के निमित्त से ज्ञान मे न्यूनता अथवा अधिकता होती रहती है। यह भी होता है कि मिथ्यात्व के प्रभाव से ज्ञान कभी विपरीत—मिथ्याज्ञान—बन जाता है और मिथ्यात्व हट जाने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। मगर प्रत्येक अवस्था मे उसकी सत्ता बनी ही रहती है।

यही बात दर्शन के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए और सुख आदि गुणो के विषय मे भी समझनी चाहिए।

कई लोगो की मान्यता है कि आत्मा को जब मुक्ति प्राप्त होती है तो उसका ज्ञान गुण भी नष्ट हो जाता है और सुख गुण भी नष्ट हो जाता है। मगर ऐसा कहने वालों ने न तो आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझा है और न ज्ञान एव सुख की असलियत को ही जान पाया है। मगर आज मैं इस विषय पर लम्बी चर्चा नही कर सकूँगा। यह एक स्वतंत्र ही विषय है।

जैसे ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, उसी प्रकार रूप, रस, गध और स्पर्श पुद्गल के स्वाभाविक गुण हैं। यह पुद्गल के स्वभाव हैं। इसी प्रकार सभी द्रव्यों मे अलग-अलग अपने-अपने गुण है।

इस प्रसंग मे यह बतला देना भी अनुचित न होगा कि मूल द्रव्य एक-मात्र सत्ता है। सत्ता प्रतिपक्षविहीन शुद्ध द्रव्य है। उसी सत्ता के छह भेद हैं जो षट् द्रव्य कहलाते हैं। यह छ भेद जो हुए हैं, वह गुणो की भिन्नता के आधार पर ही हुए है। गुणों के भेद से वस्तु में भेद हो जाता है।

यह आत्मभूत गुणों की बात हुई। अब अनात्मभूत या वैभाविक गुणों को लीजिए। जो गुण तो हो पर स्वाभाविक न हो, अर्थात् किसी बाहरी प्रभाव से पैदा हुए हो, उन्हे वैभाविक गुण कहते हैं। आत्मा मे क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, मोह, मत्सरता आदि वैभाविक गुण है। यह ज्ञान, दर्शन और सुख की भाँति आत्मा के स्वभाव नही है; वरन् मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होते है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे विकार उत्पन्न करते है। यह आत्मा को अशुद्ध परिणति के नमूने है। इसी प्रकार पुद्गल आदि द्रव्यो मे भी वैभाविक गुण समझ लेने चाहिएँ।

आत्मा जब अपने स्वाभाविक गुणो मे रमण करता है, वैभाविक गुणों के प्रभाव से छुटकारा पा लेता है, तभी उसे सच्ची शान्ति मिलती है। सच पूछिए तो शास्त्रो मे जो भी साधना और आराधना का विधान किया गया है, उसका एक-मात्र प्रयोजन आत्मा के स्वाभाविक गुणो को प्राप्त कर लेना ही है। यही समस्त शास्त्रों का सार है। यही मनुष्य-मात्र का परम कर्त्तव्य है। यही मानव-जीवन की सर्वोत्तम सफलता है। जिसने अपने असली गुणो को पूर्ण रूप में प्राप्त कर लिया वह साधक सिद्ध बन गया, वह आत्मा परमात्मा बन गया, वह नर से नारायण बन गया, वह भक्त भगवान् बन गया। उसकी साधना की मजिल पूरी होगई। वह कृतकृत्य हो गया। उसके सभी मनोरथ पूरे हो गए।

शास्त्रकारो ने वस्तु का बोध कराने के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन लिया है। नाना प्रकार से भेद-प्रभेद करके वस्तु का स्वरूप हमारे लिए बोधगम्य बनाया है। मैं अभी-अभी

बतला चुका हूँ कि इस विश्व में मूल द्रव्य एक है और वह है सत्ता। मगर इतना कह कर ही छोड देने से अल्पज्ञ जीव चक्कर में पड सकते है। इस कारण शास्त्रकारो ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है। कोई यह न समझ ले कि सत्ता ही एकमात्र द्रव्य है तो जगत् मे जड़ और चेतन का कोई भेद नही है। कुछ लोगों ने भ्रमवश ऐसा समझ भी रक्खा है। उनके भ्रम को दूर करने के लिए ज्ञानी-जनों ने बतलाया है कि सामान्य की अपेक्षा सत्ता एक द्रव्य है, मगर विशेष की अपेक्षा उसके भेद भी होते है। प्रारभ मे सत् पदार्थ दो भागों मे विभक्त किये जा सकते है—चेतन और जड़। जिसमे चेतना है, अर्थात् जानने-देखने की या समझने-बूझने की शक्ति है, वह चेतन है और जिसमे यह शक्ति नही वह जड है। जड़ मे जड़ के गुण है और चेतन में चेतन के गुण हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, अतएव उसके गुण भी चैतन्यरूप है। पुद्गल जड़ है तो उसके रूप भी जड़ रूप हैं।

बतलाया जा चुका है कि गुण और गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध है और दोनों एक दूसरे के बिना नही रह सकते। अतएव चैतन्य के गुण चेतन मे और जड़ के गुण जड़ मे ही रहते है। यह अटल सिद्धान्त है।

आप लोगों ने पच्चीस बोल का या पैंतीस बोल का थोकड़ा पढ़ा होगा। उनमे छहो द्रव्यो के गुण बतलाये गये है। जैसे जीव का गुण चेतना या उपयोग, पुद्गल का गुण सड़न, पड़न या विध्वंसन अथवा वर्ण गंध रस और स्पर्श आदि, धर्मास्तिकाय का गुण जीवो और पुद्गलों की गति मे सहायक होना, अधर्मास्तिकाय का गुण उनके ठहरने मे सहायक

होना, आकाश द्रव्य का गुण अवकाश देना और काल द्रव्य का गुण वर्त्तना या परिवर्त्तन में सहायक होना आदि है। इस प्रकार छहो द्रव्यो मे भिन्न भिन्न अपने-अपने गुण है।

अग्नि की छोटी-सी चिनगारी भी ईन्धन और हवा का निमित्त पाकर प्रचण्ड रूप धारण कर सकती है। इस प्रकार स्वल्प चेतना वाला निगोद का जीव या दूसरे एकेन्द्रिय जीव भी अनुकूल निमित्त पाकर अपना विकास कर सकता है और सिद्ध भगवान् तक बन सकता है। मगर शर्त यही है कि चेतना का अश होना चाहिए। चूल्हे मे थोड़ी अग्नि हो और ईन्धन देकर उसमे फूँक लगाई जाय तो वह तीव्र बन सकती है। अगर चूल्हे में आग बिल्कुल हो ही नही और फूँक पर फूँक लगाई जाय तो भी आग प्रज्वलित होने वाली नहीं। फूँकने वाले का मुँह राख से भर जायगा, वह भूत-सा दिखलाई देने लगेगा, मगर आग नही जल सकेगी। आखिर ह्रास या विकास उसी का होगा जो वस्तु विद्यमान है। जो विद्यमान नही, जिसकी सत्ता ही नही, उसका ह्रास होगा तो कैसे और विकास होगा तो भी कैसे ?

सम्यग्दृष्टि, साधुत्व और सिद्धत्व आदि जीव के विकास की भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं को चेतनावान् ही प्राप्त कर सकता है। चौदह प्रकार की, विकास की तरतमता को लेकर प्रतिपादित की हुई भूमिकाएँ, जिन्हे हम चौदह गुण-स्थान कहते हैं, जीव मे ही सभव हो सकती है। जड़ पदार्थ मे यह भूमिकाएँ नही होती।

इसका अर्थ यह न समझिए कि जड़ पदार्थ मे कोई गुण या शक्ति ही नही है। जड़ मे भी शक्ति है और अनन्त शक्ति है,

पर जीव की शक्ति उसमे नही। उसमे अपने निज के गुण है। पुद्‌गल मे कृष्णता, नीलता आदि, सुगंध, दुर्गंध आदि, खट्टापन, मीठापन आदि, कोमलता, कठोरता आदि गुण है। मगर चेतना या ज्ञान आदि गुण नहीं है।

जड़ की शक्तियो का भी विकास होता है। ह्रास भी होता है। वर्त्तमान युग मे जड़ का जो अद्‌भुत और आश्चर्यजनक विकास हुआ है, उसे आप देख ही रहे है। परमाणु बम और उद्‌जन बम जड़ के विकास के ही फल है। कहना चाहिए कि यह युग जड़ के विकास का युग है। चेतना के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि गुणों का विकास तो नाम-मात्र को, स्वल्प मात्रा मे ही हो रहा है। परन्तु जड़ की शक्तियों का अभूतपूर्व विकास हो रहा है भले ही इस विकास का परिणाम कुछ भी हो, इससे चाहे मानवजाति के दुःख और द्वन्द्व की वृद्धि ही क्यो न हो, पर जड़ का विकास तो हो ही रहा है।

आत्मा के गुणो का विकास किस प्रकार होता है, जैन-शास्त्रो मे इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है। मैं संक्षेप मे यह विषय बतलाऊँगा। ज्ञान गुण की प्राप्ति के बाह्य कारण अनेक हो सकते है, पर अन्तरङ्ग कारण ज्ञानावरण कर्म का क्षय या क्षयोपशम ही है। ज्ञानावरण कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा का ज्ञान गुण उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के आड़े आए हुए बादल के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है। सूर्य है, उसका प्रकाश भी है, मगर मेघो से आच्छादित हो रहा है। मेघ हटे और सूर्य चमक उठा। इसी प्रकार आत्मा मे अनन्त ज्ञान है, मगर वह कर्म से आच्छादित हो गया है। कर्म हटा और ज्ञान अपने रूप मे चमकने लगा।

इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के हटने पर दर्शन का आविर्भाव होता है। ज्यो-ज्यो दर्शनावरण कर्म क्षीण होता जाता है, त्यो-त्यो दर्शन गुण वृद्धिंगत होता जाता है। जब दर्शनावरण का पूरी तरह क्षय हो जाता है तो दर्शन गुण का भी पूर्ण रूप से प्रकाश हो जाता है। वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त अव्याबाध सुख, मोहनोय के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र, आयु कर्म के क्षय से अनन्त अव्याबाध स्थिति और अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यलब्धि रूप गुण की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि आठो कर्मों के क्षय से भिन्न-भिन्न आत्मिक गुणो की प्राप्ति होती है। यह सब आत्मा के गुण है।

आत्मा के गुण जुदा कार्य करते है और पुद्गल के गुण जुदा कार्य करते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य नही कर सकता और एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य का कार्य नही कर सकते।

पाँच इन्द्रियों को ही लीजिए। पाँचो इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हैं, अपने अपने विषय को ग्रहण करने का उनका क्षेत्र भी जुदा-जुदा है। आँख देखने का काम कर सकती है, परन्तु सुनने का काम नही कर सकती है। कान सुनने का काम कर सकता है, सूंघने का नहीं। नाक सूंघ सकती है, देख नहीं सकती। जीभ चख सकती है, देख नही सकती। त्वचा स्पर्श का अनुभव कर सकती है, स्वाद को नही जान सकती। इस प्रकार सब इन्द्रियाँ अपना अपना ही कार्य करती है। एक का काम दूसरी नहो कर सकती। ऐसा न होता तो पाँच इन्द्रियो की आवश्यकता ही न होती। एक ही इन्द्रिय पाँचो का काम कर लेती।

कुछ लोगों को जीभ के विषय में भ्रम हो जाता है। वे समझते हैं कि जीभ स्वाद का भी अनुभव करती है और स्पर्श को भी जानती है। ऐसे लोगो का कहना है कि जब हम मीठा डाला हुआ गर्म दूध पीते हैं, तब दूध की उष्णता का और मधुरता का एक साथ भान होता है। (यहाँ हमारे वाला मीठा समझना, तुम्हारे वाला 'मीठु' अर्थात् नमक नही। तुम्हारे वाला मीठा अगर दूध में डाल दिया जाय तो दूध फट जायगा और उसमें माधुर्य नहीं रहेगा।) इसी प्रकार बर्फ की डली या नमक की डली मुख में डालने पर स्वाद और स्पर्श दोनों की प्रतीति होती है।

मित्रो! मगर यह आभास-मात्र ही है। असल बात यह है कि जिह्वा मे दो प्रकार के तत्व है—स्पर्शनेद्रिय का भी और रसनेन्द्रिय का भी। यह तो आप जानते होगे कि चार इद्रियों के स्थान परिमित—नियत हैं, मगर स्पर्शनेन्द्रिय का स्थान नियत नही है। वह सम्पूर्ण शरीर मे व्यापक है। आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि सभी अङ्गों में स्पर्शनेन्द्रिय के तत्व हैं। समस्त अङ्गों की भाँति जीभ में भी स्पर्शनेन्द्रिय के तत्व विद्यमान हैं। अतएव एक ही अङ्ग से रस और स्पर्श का अगर अनुभव होता है तो वह भिन्न-भिन्न शक्तियो से ही होता है, किसी एक शक्ति से नही। यह अन्तर इतना सूक्ष्म है कि हम छद्मस्थ उसका अनुभव नहीं कर पाते।

कहा जाता है—'लीजिए साहब, दूध पीजिए।' मगर दूध कोरा दूध नही होता। उसमें शक्कर भी मिली रहती है। फिर भी कोई यह नहीं कहता कि—'लीजिए, शक्कर पीजिए।' इसका कारण यही है कि लोक मे प्रधानता को लेकर ही वचन-व्यवहार

होता है। दूध मे शक्कर होने पर भी दूध अधिक है, अत. उसकी प्रधानता है इसी कारण उसका नाम लिया जाता है, शक्कर का नही। इसी प्रकार जीभ मुख्य रूप से रसास्वादन का काम करती है। इसी से वह रसना इद्रिय कहलाती है। यद्यपि वह स्पर्शन का भी काम करती है, मगर गौण रूप से। समस्त शरीर कहने से जीभ का भी उसमे समावेश हो जाता है। अतएव सर्वांगसाधारण जो स्पर्शनशक्ति है, वह जीभ मे भी विद्यमान है। मगर यह नही भूल जाना चाहिए कि जिह्वा मे स्पर्शन और रसना के दोनो तत्त्व एक क्षेत्रीय होने पर भी दोनो एक नहीं है—उन दोनो मे मौलिक भेद है।

हॉ, तो जैसे इद्रियो के गुण भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार छहो द्रव्यो के गुण भी भिन्न-भिन्न है। एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य का नही हो सकता और न एक द्रव्य का काम दूसरे द्रव्य से लिया जा सकता है। ऐसा सभव होता तो हमे यहॉ आने की और आपको हमे बुलाने की आवश्यकता ही क्या थी ? यह पाट वहाँ मौजूद ही थे। इन्हीं से व्याख्यान सुन लेते और ज्ञान भी प्राप्त कर लेते। मगर ऐसा होना शक्य नहीं है। पाट बैठने को आश्रय दे सकता है, ज्ञान नही दे सकता।

अगर आप अपनी चेतना का विकास करना चाहते हैं तो आपको उसकी उपासना करनी चाहिए जिसकी चेतना को विकास हो गया है। आप ज्ञान-दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करना चाहते हैं तो आपको उसी की भक्ति करनी होगी जिसमे यह गुण मौजूद है। जड़ की उपासना या भक्ति करने से इन गुणो की प्राप्ति नही हो सकती।

अलवत्ता संसारी जीवों को जड़ की भी जरूरत रहती है।

मेरा शरीर जड़ पदार्थों से बना है। मगर उसके बिना काम नही चल सकता। ऐसा होने पर भी जिसका जितना महत्व हो, उसे उतना ही महत्व देना चाहिए।

जीव, पुदगल नहीं, पुद्गली है। सेठ धन नही, धनी है। भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है कि जीव, पुद्गल है या पुद्गली? उत्तर है कि जीव पुद्गली है। आत्मा भी जब तक सकर्मक है, सशरीर है, तब तक पुद्गली है।

पुद्गलों से बने हुए इस शरीर से अनेक कार्य लिए जाते है। धर्म-क्रिया इसी से की जाती है। मानव-शरीर के बिना मुक्ति नही मिल सकती। इससे शरीर का महत्त्व समझा जा सकता है कि शरीर का कितना महत्त्व है। शरीर के अभाव मे वचन-योग भी नही हो सकता और काययोग भी नही हो सकता। इतना उपयोगी और आवश्यक शरीर भी पूजनीय नही, किन्तु वर्जनीय ही है। पूजा, वन्दना या नमस्कार शरीर का नही किया जाता, किन्तु शरीरधारी आत्मा ही पूजनीय, वन्दनीय और नमस्करणीय है।

मित्रो! यह शरीर जितना उपयोगी है, उतना ही अनर्थ-कारी भी है। उर्दू भाषा मे दो शब्द है—शरीर और शरीफ। शरीर का अर्थ होता है—बदमाश, गुंडा, चोर, डाकू, उचक्का। और शरीफ का अर्थ है—भद्र और श्रेष्ठ पुरुष। हमारा यह शरीर अगर उल्टे रास्ते पर चलने लग जाय, दुराचार का सेवन करने लगे तो यह वस्तुत उर्दू भाषा वाला 'शरीर' ही बन जाता है। यह शरीर ही समस्त आधियों, व्याधियो और उपाधियो का कारण है। सारे उत्पात इसी की बदौलत होते हैं। इतना होने पर भी ज्ञानी-जन इस शरीर पर काबू पाते

है। हम शरीर की पूजा नही करते है, परन्तु इसको वश मे करने वाले साधु पुरुषो की पूजा करते है।

आप साधु को वन्दना करते है, तो क्या साधु के शरीर को वन्दना करते है अथवा साधु की आत्मा के गुणो को? मै समझता हूँ और आप भी यही समझते होंगे कि आप शरीर को नहीं, गुणों को वन्दना करते है। •

कल्पना कीजिए, कोई साधु मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से चारित्रभ्रष्ट हो गया। वह केवल चारित्र से ही भ्रष्ट हुआ, ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट नही हुआ। उसकी श्रद्धा यथार्थ है और उसका ज्ञान भी यथार्थ है। वह सिर्फ अपनी वासना पर काबू नही पा सका, इस कारण चारित्र से च्युत हो गया है। क्या आप उसे वन्दना करेंगे? नही, शास्त्र के अनुसार ऐसा नही किया जायगा। तो जो पुरुष तीन गुणों मे से सिर्फ एक गुण से भ्रष्ट हो गया, उसे भी आप नमस्कार नही करते तो जिसमे एक भी गुण न हो, उसे कैसे नमस्कार किया जा सकता है? एक भक्त कहता है :—

सच्चा भगत बन जाऊ, भगवान् तुम्हारा अब मै।
उच्च नीच का भेद न मानू,
गुण पूजा का महत्व पहचानू,
व्यक्ति न व्योम चढाऊँ,
भगवान् तुम्हारा अब मै सच्चा भगत बन जाऊं ॥

भक्त कहता है—प्रभो! मेरी दृष्टि में जात-पॉत, धन आदि के लिहाज से उच्च-नीच का भेद न हो; सिर्फ गुणो का ही महत्त्व हो। जिसमे सद्गुण है, वह किसी भी खानदान मे क्यों न पैदा हुआ हो, वन्दनीय है। मैं जाति के कारण किसी

को ऊँचा न मानूँ और किसी को नीचा भी न मानूँ। क्योंकि क्या ब्राह्मण और क्या भंगी, सभी एक ही जाति के हैं। सब की पचेन्द्रिय जाति है।

आज लोगो ने मानव जाति के जिन टुकड़ो को जाति समझ लिया है, वह वास्तविक जाति नही हैं। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त एक ही बनी रहने वाली पर्याय जाति कहलाती है। किसी मत्र, किसी पाठ, किसी आह्वान और किसी भी पूजा से जाति बदल नही सकती। हाँ, अगर वह बदलती है तो जीव के अपने कर्म से ही बदल सकती है, और वह भी दूसरे जन्म मे, इसी जन्म म नही। एकेन्द्रिय जीव अगर द्वीन्द्रिय बनता है तो दूसरा जन्म लेकर ही बनता है। मगर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक् आदि जातियाँ तो बीच मे ही बदल जाती हैं। अतएव यह जातियाँ वास्तविक जातियाँ नही। यह तो मनुष्य की कल्पना के आधार पर खड़ी हुई है—विधाता का अमिट विधान नही है। शुद्धि करके मुसलमान को हिन्दू बना लिया जाता है और हिन्दू भी मुसलमान बन जाता है। यह तो मानवीय या लौकिक-व्यवस्था मात्र है, जो समाज की सुविधा के अनुसार बदलती रहती है। इसका कोई तात्त्विक या ठोस आधार नही है।

किसी जमाने मे समाज की सुविधा के लिए जातियों की कल्पना की गई। मगर बाद के लोगों ने अहकार से प्रेरित होकर उनमें ऊँचे-नीचेपन की कल्पना भी कर डाली। अमुक जाति ऊँची है और अमुक जाति नीची है और ऊँची जाति में जन्म लेने वाले सभी मनुष्य ऊँचे है और नीची जाति मे जन्मे सब नीचे है! इस कल्पना ने गुणों के महत्त्व को खत्म कर

दिया। उच्च जाति मे जन्म लेने वाला चाहे कितना ही कुकर्मी हो, हिंसक हो, झूठा हो, चोर हो, दुराचारी हो, फिर भी वह ऊँचा है, पूजनीय है! नीची जाति मे जन्म लेने वाला कितना ही सदाचारी, धर्मनिष्ठ, नीतिमान् और सयमशील हो, वह नीचा ही है।

भाइयो! जहाँ इस प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा बन गई हो वहाँ गुणो की क्या पूछ हो सकती है! वहाँ तो अहंकार, दंभ और द्वेष ही रह सकते है। वास्तव मे इस भ्रान्त धारणा ने मानव जाति को बहुत क्षति पहुँचाई है। इस असत् कल्पना ने सद्गुणो की प्राप्ति द्वारा किये जाने वाले जीवन के उत्थान के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। लोग ऊँची जाति से ही महत्त्व का अनुभव करके जीवन की वास्तविक प्रगति से विमुख हो गये। इस अहंकारजनित दुर्भाव से मनुष्य का अध पतन हुआ और उस अध.पतन को भी मनुष्य ने अपना अध पतन नही माना। वह जातिगत उच्चता के मोह मे जो पड़ा हुआ था।

जैनधर्म इस प्रकार की किसी भी विनाशकारी धारणा का समर्थन नही करता। वह स्पष्ट कहता है—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई॥

—उत्तराध्ययन।

जाति की कोई विशेपता किसी व्यक्ति में दिखाई नही देती, मगर तपस्या आदि गुणो की विशेपता तो प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है।

जैनधर्म कहता है कि जाति का मद मत करो, अन्यथा नीच जाति मे जन्म लेना पड़ेगा। इसी प्रकार रूप का मद करने से कुरूप बनना पड़ेगा और धन का मद करने से पाई-पाई के लिए मुहताज बनना पड़ेगा। तप का मद करने से नवकारसी तप करना भी भारी पड़ जायगा। ऐसे भी मनुष्य हैं, जो चाय-पानी आदि का नाश्ता किये बिना खाट से नीचे भी नही उतर सकते। यह तपोमद का ही दुष्परिणाम है। ऐश्वर्य अर्थात् हुकूमत का अभिमान करने से परतन्त्रता भुगतनी पड़ेगी। इस प्रकार जप तप का भी मद वर्जित है तो जाति के मद का तो कहना ही क्या है! हमारे शास्त्र मे एक सूत्र आया है —

असयं उच्चागोए,
असयं नीयागोए।

अर्थात् अनादि काल से भवभ्रमण करते हुए इस जीव ने अनेक बार उच्च गोत्रों में जन्म धारण किया है और अनेको बार नीच गोत्रों मे। अतएव किसी भी विवेकशील पुरुष को जाति आदि का मद नही करना चाहिए। इसी कारण वह भक्त कहता है कि—हे भगवन्! मैं ऊँच-नीच का भेद न मानूँ किन्तु गुणो की महिमा को समझूँ। यह बात मेरे मन में बद्धमूल हो जाय कि मनुष्य अपने गुणो से ही बडा होता है और गुणो के अभाव से ही छोटा होता है। मनुष्य की उच्चता और नीचता को गुणो के गज से ही नापना चाहिए, जाति से नही। जाति तार नहीं सकती, गुण ही तार सकते हैं।

बन्धुओ! भगवान् से प्रार्थना करो कि हमे उदात्त विचार प्राप्त हो। किसी से घृणा मत करो, किसी को दुरदुराओ मत।

हट, हट यहाँ से, मत कहो। मनुष्य मात्र के प्रति समान मैत्री भाव धारण करो।

आत्मवत् सर्व भूतेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्।
मातृवत् परदारेषु, यः पश्यति स पण्डितः॥

जो सब प्राणियो को अपने आत्मा के समान मानता हो, पराये धन को पत्थर के समान समझता हो और पर-स्त्री को माता के तुल्य गिनता हो, वही वास्तव मे पण्डित अथवा विवेकवान् पुरुष है।

जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके भी समभाव नही प्राप्त करता, वह पण्डित नही, पड्डू है। (पोटली उठाने वाले को पंडू कहते हैं।) पंडित शब्द का गॅवार लोग ऐसा भी अर्थ करते है— 'प' अर्थात् पापी, 'ड' अर्थात् डाकू और 'त' अर्थात् तस्कर। अगर कोई पण्डित कहला कर भी पाप कार्य से नही डरता और सद्गुणो की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नही बनता, तो उसे यह अर्थ लागू करना पड़ता है।

वास्तव मे जो सब प्रकार के जीवों पर समभाव रखता है वही सच्चा पंडित है। छोटे-मोटे जीवों की आत्मा मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, अन्तर है तो शरीर मे है। वस्त्र जुदे-जुदे है, मगर पहिनने वाला नही है। जो भेद दिखलाई देता है वह कर्मकृत है। कहा भी है :—

एक एक से एक को आला बना दिया,
इन कर्मों ने किसी को दारा—
तो किसी को सिकन्दर बना दिया॥

एक शूली पर चढ़ने वाला है और दूसरा शूली पर चढ़ाने की

आज्ञा देने वाला है। यह भेद संसार मे है और रहेगा ; मगर तुम व्यर्थ अभिमान मत करो कि हम बड़े है और दूसरे छोटे हैं, तुच्छ हैं, नगण्य हैं। अगर तुम सचमुच बड़े हो तो छोटों को ऊंचा उठाओ। छोटो को कुचलो मत, उनका शोषण मत करो। वह बडा किस काम का है जो छोटों के काम नहीं आता ?

अरे ताड लंबा घणा, ऊचा गया आकाश।
गहरी छाया देख के, मैं आया तुझ पास।
मैं आया तुझ पास, कूप में छाया डारी।
नही पंथी को विश्राम, देखली शोभा - कारी।

एक पथिक ज्येष्ठ-वैशाख की सख्त गर्मी मे जङ्गल मे जा पहुँचा। उसने विश्राम करने के लिए इधर-उधर नजर दौड़ाई कि कही कोई पेड़ हो तो उसकी छाया मे विश्राम करलूँ। दूर से ताड़ का पेड़ दिखाई दिया। वह वहाँ पहुँचा। उस समय ताड़ की छाया समीपवर्ती एक कूप मे पड़ रही थी। यह देखकर पथिक को गहरी निराशा हुई। वह लवा पेड़ देखकर धूप मे तपता हुआ उसके पास पहुँचा था। जब उसने देखा कि ताड़ की छाया कूप मे पड़ रही है तो उसे तीव्र आघात लगा। उसने सोचा, छाया का आश्रय लूँ तो कूप मे पड़ना होगा। इस सुहाग से तो रँड़ापा ही भला।

तात्पर्य यह है कि जो दिखने मे मोटा है, मगर छोटो के काम नही आता उसका मुटापा किसी काम का नही। वस्तु का असली मूल्य सद्गुणो से ही है। जिसमें गुण नही, वह बड़ा नही है, वह पूजनीय नही है। गुण जड़ और चेतन—दोनों मे ही होते है, मगर पूजा चेतन की ही की जाती है, जड़ की नही।

भाइयो ! घंटा बज रहा है। वह समय हो चुकने की सूचना दे रहा है। उर्दू के एक शायर ने कहा है :—

उड़ रही थी व्यर्थ की गपशप कि घंटा बज गया।
मौत का जालिम कदम, इक और आगे बढ़ गया।

आप लोग उर्दू नहीं जानते, वर्ना इस कविता को सुनकर आपका हृदय मयूर की तरह नाचने लगता।

घंटा बजकर यह सूचना देता है कि—देखो, मौत तुम्हारी तरफ एक कदम और आगे बढ़ गई है। तुम्हारी आयु एक घंटा और कम हो गई है।

सामने यह जो घड़ी लटक रही है, उसका कांटा हमारे जीवन को भेद रहा है। भाइयो ! छोटा सा कॉटा भी बड़ा दुखदाई होता है। फिर यह तो इतना बड़ा है ! यह निरन्तर हमारे जीवन को व्यथित कर रहा है। सावधान रहो !

इस जड़ घड़ी से भी शिक्षा ग्रहण करो। मगर घड़ी माता और कांटा बापू कहकर इनकी पूजा मत करना। यद्यपि यह दोनों गुण प्रदान करते है, लाभ पहुंचाते हैं, फिर भी वन्दनीय और पूजनीय नहीं है। गुण तो आत्मा मे ही है, मगर उन गुणो के प्रकट होने मे निमित्त कारण होने से, उपचार से यह कहा जाता है कि यह गुण प्रदान करते है। 'चूल्हा पिता और हॅडिया माता, तुम बहुत काम के हो, अत मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ, अगर ऐसा करोगे तो बुद्धिमान् नहीं गिने जाओगे। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग करना सीखो। सार यही है कि अपनी दृष्टि सदैव गुणो की ओर रक्खो। गुणों की ही पूजा करो, गुणो को ही उपादेय समझो और गुणों की प्राप्ति

के लिऐ ही प्रयत्नशील बनो। यह स्मरण रखो कि तुम्हे जिन गुणो की प्राप्ति करनी है, वह गुण जिसमे विकसित हो चुके हैं, वही तुम्हारे लिए वन्दनीय, पूजनीय, सम्मानीय और आराधनीय है। जिसमे वह गुण है ही नहीं अथवा विकसित नहीं हुए है, उसकी आराधना करने से इष्ट प्रयोजन की सिद्धि नही होगी। जैनधर्म गुण-पूजा का ही समर्थक है। वह गुणो के अतिरिक्त और किसी भी चीज को पूजनीय नही मानता। अतएव आप गुणपूजक बनकर स्वयं गुणो के पात्र बन जाएँ, यही मेरी आन्तरिक कामना है।

राजकोट,
१७-७-५४

: २ :

सुख की राह

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

सुखाभिलाषी भव्य आत्माओ !

यह बात निर्विवाद है, इस विषय मे किसी का मतभेद नहीं है कि इस विराट् विश्व के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी है। कीडी से लेकर कुंजर तक, क्या छोटे और क्या बड़े, क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी आदि, सभी जीवो का प्रयास सुख प्राप्त करने के लिए ही हो रहा है। जगत् मे जो दौड़-धूप हो रही है, जो धमा-चौकड़ी मची हुई है, उसके मूल को खोजने का प्रयत्न किया जाय तो एक ही हेतु दृष्टि-गोचर होगा और वह हेतु यही कि सुख कैसे प्राप्त किया जाय ? मनुष्यो और विकसित पशुओं की चेष्टाएँ स्थूल है, वह हमारे ज्ञानगम्य हैं। उन्हे हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि उनका रात-दिन का प्रत्येक प्रयत्न सुख की उपलब्धि के लिए ही हो रहा है। किन्तु एकेन्द्रिय आदि ऐसे भी बहुत से प्राणी है, जिनकी चेष्टाओं को हम अपनी स्थूल दृष्टि से नही देख सकते। मगर वे भी सुख की ही आकांक्षा से ही प्रेरित है।

कहावत है—'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना', अर्थात् अलग-अलग खोपड़ियों के विचार भी अलग-अलग होते है। इस कारण

दु ख के अभाव को ही सुख समझ लेने की धारणा अवश्य भ्रमपूर्ण है। पर यह धारणा क्रोधावेश में आई उस रमणी की ही नहो है। कई तत्त्वज्ञानी कहलाने वाले भी इस भ्रमपूर्ण धारणा के शिकार हुए है। उनका यह मन्तव्य है कि मुक्तात्माओ मे दु खाभाव रूप ही सुख होता है। वे सुख को स्वतन्त्र सत्ता मुक्तात्माओ मे स्वीकार नही करते। उन्हे पता ही नही कि जैसे ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, उसी पकार सुख भी स्वाभाविक गुण है।

साराश यह कि आत्महत्या के लिए उद्यत हुई महिला की प्रवृत्ति भी सुख की अभिलाषा से ही प्रेरित है। इस प्रकार हम देखते है कि जीव-मात्र समस्त मानसिक, वाचिक और कायिक शक्तियाँ सुख की ही खोज में निरन्तर सलग्न है। कोई प्राणी ऐसा नहीं मिल सकता जो सुख ना चाहता हो अथवा दु ख की कामना करता हो। पागलों की बात मै कह नही सकता। मगर दु ख की इच्छा तो वे भी नही करते।

मै बतला चुका हूँ कि सुख आत्मा का एक स्वतन्त्र गुण है। जैसे चेतना आत्मा का स्वरूप है, उसी प्रकार सुख भी आत्मा का स्वरूप है। एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य पर निर्भर नहीं होता। आत्मा का सुख गुण भी अन्य द्रव्यो पर निर्भर नहीं है। फिर भी देखा जाता है कि जीव पुद्गलों के सयोग मे सुख की कल्पना करता है। यह परद्रव्य-जनित सुख शुद्ध सुख नही है, सुखाभास है, विकारमय सुख है और आत्मा के असली सुख गुण का विकार है। यह सुखाभास इस बात का प्रमाण है कि कोई मौलिक असली सुख अवश्य होना चाहिए। वह न होता तो उसका विकार भी न होता। जब मूल वस्तु ही

न हो तो उसका विकार कहाँ से आ जायगा ? तो विषयजनित यह विकृत सुख ही आत्मा के वास्तविक सुख-गुण के अस्तित्व का प्रमाण है। अगर सुख आत्मा का स्वभाव न होता तो आत्मा सांसारिक पदार्थों मे भी सुख का अनुभव नही कर सकता था।

किसी जड पदार्थ को सुख का अनुभव नही होता। घड़े मे मिश्री भरी है, मगर उसे मिश्री के मिठास का आनन्द नही होता। इसका कारण यही है कि घडा जड़ है, सुख उसका गुण नही है। इसी प्रकार सुख अगर आत्मा का गुण न होता तो उसे सुख की अनुभूति ही न होती।

यद्यपि आत्मा के सुख गुण का एक ही स्वरूप है—उसमे कोई भेद नही है, फिर भी उपाधि-भेद से अथवा लोकप्रसिद्धि के अनुरोध से शास्त्रकारों ने सुख के दो भेद बतलाये है—एक आत्मिक सुख और दूसरा भौतिक या पौद्गलिक सुख। दूसरे शब्दो मे यो भी कहा जा सकता है कि एक सुख इन्द्रिय-जनित है और दूसरा आत्म-जनित है। पहला सुख सोपाधिक है, दूसरा सुख निरुपाधिक है। इन्द्रिय-जनित सुख पौद्गलिक है, क्योंकि वह इष्ट माने हुए पौद्गलिक पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होता है। आत्मजनित सुख की अनुभूति मे किसी भी पर-पदार्थ की अपेक्षा नही रहती। वह पर-निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। आत्मा का निज रूप है।

आप जानते है कि संयोग-मात्र अनित्य है। ससार मे किन्हीं भी अनेक पदार्थो का संयोग क्यों न हो, वह सदैव नहीं रह सकता। एक समय अवश्य आता है, जब उसका अन्त आ जाता है। जब संयोग का अन्त आता है तो संयोगज

पर्याय का भी अन्त हो जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि पुद्गलों के सयोग से उत्पन्न होने वाला सुख भी अनित्य, अस्थायी, नाशवान् और क्षणिक है। आत्मा को जब पुद्गलो का इष्ट पुद्गलो का सयोग मिलता है, तब उसे सुख का अनुभव होता है और जब वह निमित्त चला जाता है, अर्थात् सयोग का अन्त हो जाता है तो वह सुख भी समाप्त हो जाता है।

कर्मों के योग से जब अनुकूल सामग्री मिलती है तो जीव सुख मान लेता है और जब प्रतिकूल सामग्री का सयोग होता है तो दु ख मानने लगता है।

इस प्रकार पराश्रित होने के कारण पौद्गलिक सुख अनित्य है। मगर आत्मिक सुख के विषय मे यह बात नहीं कही जा सकती। वह पराश्रित न होने के कारण शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है, अविनश्वर है, असीम है, अनन्त है।

भाइयो ! कर्म की स्थिति नियत है। जब स्थिति पूरी हो जाती है तो अपना फल देकर कर्म नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसकी निर्जरा हो जाती है। और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तो तज्जन्य इष्ट-अनिष्ट सामग्री भी चली जाती है। कर्म कारण है और इष्ट-अनिष्ट सामग्री का मिलना उसका कार्य है। कारण जब नही होता तो कार्य भी नही हो सकता। जब तक कर्म की सत्ता रहती है, तभी तक उसका असर भी रहता है, बाद मे नहीं रहता।

इन्द्रियजन्य सुख सातावेदनीय कर्म के उदय रूप अन्तरङ्ग कारण से उत्पन्न होता है। आत्मिक सुख के लिए किसी भी कर्म के उदय की आवश्यकता नही रहती। यही नही, कर्म का उदय आत्मिक सुख मे बाधक होता है।

आत्मिक सुख आत्मा में अनन्त-अनन्त भरा है। कर्म उस पर छा जाते हैं और उसे ढँक देते हैं। जैसे सूर्य को मेघ आच्छादित कर देते है, उसी प्रकार कर्म आत्मिक सुख को आच्छादित कर देते है। किन्तु जिस प्रकार मेघाच्छादित होने पर भी सूर्य का प्रकाश पूरी तरह लुप्त नही हो जाता, उसी प्रकार कर्मो के आच्छादन से भी आत्मा का सुख गुण समूल नष्ट नही हो जाता। इन्द्रियजनित सुख के रूप में उसका आभास होता ही रहता है।

वास्तव में आत्मिक सुख की प्राप्ति मे साता और असाता दोनो कर्म बाधक हैं। सातावेदनीय कर्म भी आत्मा की अपनी वस्तु नही है। वह शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस और शुभ स्पर्श के रूप में अपना फल प्रदान करता है। किन्तु आत्मिक स्वभाव की प्राप्ति मे तो वह भी बाधक ही है।

आप कह सकते है कि शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे अगर सभी कर्म बाधक हैं तो क्या तीर्थंकर, नामकर्म भी बाधक है? इसका उत्तर यह है कि—हाँ, वह भी सिद्ध पर्याय की प्राप्ति में बाधक है। जब तक तीर्थंकर प्रकृति का क्षय नहीं हो जाता, तब तक जीव सिद्ध अवस्था नही प्राप्त कर सकता। समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पाता है और शुद्ध स्वरुप को पा लेना ही मुक्ति, सिद्धि या सिद्ध-दशा पा लेना है।

जब शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार के कर्मो का क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है और दोनों प्रकार के कर्म मुक्ति मे बाधक है तो दोनों मे अन्तर ही क्या रहा? फिर अशुभ कर्मों की भाँति शुभ कार्यों को भी त्याज्य समझ कर उनसे

पर्याय का भी अन्त हो जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि पुद्गलों के सयोग से उत्पन्न होने वाला सुख भी अनित्य, अस्थायी, नाशवान् और क्षणिक है। आत्मा को जब पुद्गलो का इष्ट पुद्गलो का सयोग मिलता है, तब उसे सुख का अनुभव होता है और जब वह निमित्त चला जाता है, अर्थात् सयोग का अन्त हो जाता है तो वह सुख भी समाप्त हो जाता है।

कर्मों के योग से जब अनुकूल सामग्री मिलती है तो जीव सुख मान लेता है और जब प्रतिकूल सामग्री का सयोग होता है तो दु ख मानने लगता है।

इस प्रकार पराश्रित होने के कारण पौद्गलिक सुख अनित्य है। मगर आत्मिक सुख के विषय मे यह बात नही कही जा सकती। वह पराश्रित न होने के कारण शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है, अविनश्वर है, असीम है, अनन्त है।

भाइयो! कर्म की स्थिति नियत है। जब स्थिति पूरी हो जाती है तो अपना फल देकर कर्म नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसकी निर्जरा हो जाती है। और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तो तज्जन्य इष्ट-अनिष्ट सामग्री भी चली जाती है। कर्म कारण है और इष्ट-अनिष्ट सामग्री का मिलना उसका कार्य है। कारण जब नही होता तो कार्य भी नही हो सकता। जब तक कर्म की सत्ता रहती है, तभी तक उसका असर भी रहता है, बाद मे नहीं रहता।

इन्द्रियजन्य सुख सातावेदनीय कर्म के उदय रूप अन्तरङ्ग कारण से उत्पन्न होता है। आत्मिक सुख के लिए किसी भी कर्म के उदय की आवश्यकता नहीं रहती। यही नहीं, कर्म का उदय आत्मिक सुख मे बाधक होता है।

आत्मिक सुख आत्मा मे अनन्त-अनन्त भरा है। कर्म उस पर छा जाते हैं और उसे ढँक देते है। जैसे सूर्य को मेघ आच्छादित कर देते है, उसी प्रकार कर्म आत्मिक सुख को आच्छादित कर देते है। किन्तु जिस प्रकार मेघाच्छादित होने पर भी सूर्य का प्रकाश पूरी तरह लुप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार कर्मो के आच्छादन से भी आत्मा का सुख गुण समूल नष्ट नही हो जाता। इन्द्रियजनित सुख के रूप मे उसका आभास होता ही रहता है।

वास्तव मे आत्मिक सुख की प्राप्ति मे साता और असाता दोनो कर्म बाधक है। सातावेदनीय कर्म भी आत्मा की अपनी वस्तु नही है। वह शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस और शुभ स्पर्श के रूप मे अपना फल प्रदान करता है। किन्तु आत्मिक स्वभाव की प्राप्ति मे तो वह भी बाधक ही है।

आप कह सकते है कि शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे अगर सभी कर्म बाधक है तो क्या तीर्थंकर, नामकम भी बाधक है? इसका उत्तर यह है कि—हाँ, वह भी सिद्ध पर्याय की प्राप्ति मे बाधक है। जब तक तीर्थंकर प्रकृति का क्षय नहीं हो जाता, तब तक जीव सिद्ध अवस्था नही प्राप्त कर सकता। समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पाता है और शुद्ध स्वरुप को पा लेना ही मुक्ति, सिद्धि या सिद्ध-दशा पा लेना है।

जब शुभ और अशुभ—दोनो प्रकार के कर्मो का क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है और दोनों प्रकार के कर्म मुक्ति में बाधक है तो दोनों मे अन्तर ही क्या रहा? फिर अशुभ कर्मों की भाँति शुभ कार्यों को भी त्याज्य समझ कर उनसे

क्यों नही बचना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि जब तक जीव उच्चतर भूमिका पर नही पहुंचा है, तब तक उसे शुभ प्रकृतियो की सहायता की आवश्यकता रहती है। मगर उस उच्चतर भूमिका पर पहुँचने के पश्चात् शुभ प्रकृतियो का त्याग करना भी अनिवार्य हो जाता है। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। समुद्र को पार करने के लिए होड़ी अर्थात् नौका की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु नौका की तभी तक आवश्यकता है जब तक कि किनारे न पहुँच जाय। किनारे पहुँच कर अपने गन्तव्य स्थान पर जाने के लिए नौका को छोड़ना पड़ता है। अगर कोई मनुष्य जिद करके—हठ करके बैठ जाय और कहने लगे कि जिस नौका ने मुझे अथाह जल मे अवलम्बन दिया, डूबने से बचाया और एक किनारे से दूसरे किनारे तक ला पहुँचाया, उस उपयोगी नौका को कैसे त्याग दूँ ! तो वह मनुष्य अपनी मँजिल तक नही पहुँच सकेगा। वह समुद्र मे ही लहराता रहेगा। परले पार पहुँच जाने के पश्चात् नौका का त्याग कर देना अनिवार्य है।

एक पार से दूसरे पार पहुँचने के लिए नौका का अवलम्बन लेने की उपयोगिता को कोई अस्वीकार नही कर सकता, मगर हर चीज की उपयोगिता एक हद तक ही होती है। नौका की उपयोगिता समुद्र के किनारे तक ही सीमित है, उससे आगे अपनी मजिल तक पहुँचने मे नौका उपयोगी नही है। यही नही, बल्कि बाधक है।

इसी प्रकार चाहे तीर्थंकर नामकर्म हो, चाहे अन्य कोई शुभ कर्म हो, उसकी उपयोगिता और आवश्यकता तो है, मगर है एक नियत सीमा तक ही। उस सीमा पर पहुंचाने मे

उनकी सहायता अपेक्षित है, पर जब उस सीमा से आगे जाना होता है तो वह उपयोगी नही रहते, बल्कि बाधक बन जाते हैं और इस कारण त्याज्य है। सिद्धक्षेत्र से उनका प्रवेश नही हो सकता।

पुण्य प्रकृतियाँ ४२ प्रकार की है। उनमे तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है। जिस जीव को इस परम पुण्यमय प्रकृति की प्राप्ति होती है, उसका बेड़ा पार हो जाता है। तीर्थंकर नामकर्म रूपी उत्तम यानपात्र पर आरूढ़ होने वाला मनुष्य अवश्य ही संसार-सागर को पार कर जाता है।

तात्पर्य यह है कि नौका कितनी भी बहुमूल्य क्यो न हो, समुद्र को पार करने का काम पूरा होने पर वह त्याज्य ही है। मगर पार पहुँचने पर वह त्याज्य है, इसी कारण प्रारम्भ मे या बीच में ही वह त्याज्य नही है। अन्त मे नौका त्याज्य है, यह सुनकर अगर कोई प्रारम्भ मे ही उसे ग्रहण न करे, उसका आश्रय ही न ले तो वह अपनी मंजिल की ओर प्रस्थान ही नही कर सकता और यदि बीच समुद्र मे छोड़ बैठे तो प्राणों से हाथ धो बैठेगा। वह डूब जायगा। पार नही पहुँच सकेगा।

पुण्य-प्रकृति मोक्ष प्राप्ति मे किस प्रकार सहायक होती है, इस बात को समझना कोई कठिन बात नहीं है। मनुष्य भव की प्राप्ति, आर्यक्षेत्र में जन्म होना, वीतराग देव द्वारा प्ररूपित धर्म को श्रवण करने का अवसर मिलना, आदि-आदि निमित्त पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते है और मोक्ष की साधना मे यह सब अनिवार्य है। इन निमित्तों के अभाव मे मुक्ति की प्राप्ति होना असम्भव है। इसी कारण प्रारम्भ मे पुण्य को उपादेय माना गया है।

अगर आपने अन्तराय कर्म बाँध रक्खा है तो उसका फल आपको भोगना पड़ेगा। अन्तराय कर्म का बध पाँच कारणों से होता है—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे अन्तराय डालने से। दान मे अन्तराय डालने से दानान्तराय कर्म का वंध होता है, लाभ मे अन्तराय डालने से लाभान्तराय कर्म का, इसी प्रकार भोग उपभोग और वीर्य मे अन्तराय डालने से भोगान्तराय आदि का वध होता है।

एक व्यक्ति दान दे रहा है। दूसरा दान ले रहा है। तब तीसरा व्यक्ति बीच मे बोल उठता है—क्यो अपनी वस्तु बर्बाद करते हो! इसके देने से कोई लाभ नही है! देने वाला शुद्ध त्यागभावना से दे रहा है और लेने वाला भी सुपात्र है। ऐसी हालत मे यह तीसरा पंचायत करने वाला व्यक्ति दानान्तराय कर्म का वध कर लेता है। ऐसे व्यक्ति को भले अन्य वस्तुएँ मिल जाएँ, मगर वह दान नही कर सकता।

कोई कह सकता है कि अगर वह व्यक्ति दान नही कर सकता तो उसे क्या टोटा हो गया! उसे तो उलटा लाभ ही हुआ। उसकी वस्तु बच गई! मगर ऐसा कहने वाला गभीर विचार करके नही कह रहा है। मै यह कहता हूँ कि वह बहुत टोटे और घाटे मे है। उसे जो नवीन पदार्थ मिलने वाले थे, उनसे वह वंचित हो गया। उसने अपनी नूतन आय का द्वार रोक दिया।

एक किसान बीज बोता है। उसे एक बीज के बदले अनेको बीजो की प्राप्ति होती है। अपनी खेती की कमाई पर किसान का पूर्ण अधिकार है। वह अपने और अपने परिवार के लिये उस धान्य का प्रयोग कर सकता है। परन्तु क्या वह किसान खेत

मे उत्पन्न हुए सारे धान्य को खा जाता है ? अथवा आगे बोने के लिये भी कुछ शेष रखता है ।

दानदाताओ ! यदि किसान पुन धरती माता को अन्न न दे और सब उदर-देव को भेंट चढा दे तो थोड़े दिनों के बाद ही उसकी क्या दशा होगी ? उसे भूखा मरना पड़ेगा। मगर किसान इस बात को भली-भाँति समझता है । वह जानता है कि भूमि को देने से ही उसे सहस्र गुना फल मिल सकता है ।

इसी प्रकार सम्पत्तिशाली को जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है, या ज्ञानवान् को जो ज्ञान मिला है, वह भी पहले की हुई खेती का फल है । अगर उस फल का वह स्वय उपभोग कर लेता है और उसका कोई भाग दूसरे को नही देता तो उसे भी भविष्य में उस वस्तु से वचित होना पड़ता है ।

किसान सडा-गला या घुना हुआ अनाज धरती को देता है या अच्छे से अच्छा ? वह बड़े बड़े दाने छाँट कर रखता है और पृथ्वी को देता है । किसान जानता है कि जैसा बीज बोया जायगा, वैसा ही फल मिलेगा । क्या आप भी यह जानते है ? आप किसान की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् गिने जाते है । हजारो-लाखों का लेनदेन करते हैं । फिर भी क्या इस सत्य को समझते है ? शायद बहुत कम !

कई लोगों की ऐसी वृत्ति होती है कि कदाचित् कोई दीन, हीन, लूला, लँगड़ा, गरीब उनके द्वार पर आ जाय तो वह उसे दुत्कार कर भगा देते हैं । कुछ लोग कुछ देते भी हैं तो जली, गली, ठडी-बासी रोटी अथवा फटे-पुराने कपड़े दे देते हैं ! जो उनके काम मे नही आ सकते हो, ऐसे पदार्थ देकर दान का

लाभ भी लूट लेना चाहते हैं और निकम्मी वस्तुओं को सँभालने की अपनी झँझट और मुसीबत से भी पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। मगर याद रखना चाहिए—जैसा दोगे वैसा पाओगे, यह अटल नियम है। नागश्री ने अपनी आपत्ति मिटाने के लिए धर्मरुचि अनगार को कटुक तूँबे का आहार बहराया था। उसे उस दान का क्या फल भोगना पड़ा, सो जानते ही होगे! अतएव अच्छी वस्तु का दान करना चाहिए। घर में अच्छी वस्तु के रहते खराब एवं बेकार वस्तु का दान देना उचित नहीं।

देय वस्तु उत्तम हो और उसके साथ अगर उत्तम भावना का पुट लगा दिया जाय तो सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ होने लगती है। ऐसा होने पर दान का फल भी उत्तम ही प्राप्त होता है।

दाता जब दान दे तो उदासीनता पूर्वक दान न दे, खिन्नता मन मे न आने दे; वरन् उमंग के साथ, हर्ष और प्रमोद के साथ, शुद्ध हृदय से, उदारता से, उछलते उत्साह से दान दे। दान देने से पहले, दान देते समय और दान देने के बाद भी चित्त मे प्रफुल्लता होनी चाहिए। तभी वह दान उत्कृष्ट बनता है और तभी उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है। शालिभद्र जैसी ऋद्धि प्राप्त करने का यही मार्ग है।

दानेन प्राप्यते स्वर्गो, दानेन सुखमश्नुते।
इहामुत्र च दानेन, पूज्यो भवति मानवः॥

मनुष्य सुखी किस प्रकार बन सकता है? सुख के सुन्दर सदन के मंगल-द्वार उघाड़ने की चाबी क्या है? यह बात मैं आपको बतला रहा हूँ। मैंने श्लोक बोला है, उसमें भी यही

बतलाया गया है। कहा गया है कि दान देने से मनुष्य को परभव मे स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है और इस लोक मे भी सुख की प्राप्ति होती है। दानी पुरुप इहलोक मे भी और परलोक में भी सुख का पात्र बनता है।

दान के तीन भूपण है और तीन दूपण है। आप जानते ही है कि भूपण से मनुष्य का रूप निखर आता है। अगर उचित रूप से भूपणो का प्रयोग किया जाय तो सुन्दरता की वृद्धि होती है, ऐसा सर्वसाधारण का ख्याल है। कहा है—

एक नूर आदमी, हजार नूर कपडा।
लाख नूर गहणागाटा, करोड नूर नखरा॥

हाँ, तो दान को सुन्दर बनाने वाले भूपण भी होते है। वे यह है—

(१) समय पर देना, अर्थात् उचित अवसर पर दान देना चाहिए। ठीक समय पर बोया हुआ बीज ही फलदायक होता है। बेमौके बोया गया बीज नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार उचित समय पर न दिया गया दान यथेष्ट फल नही देता।

(२) दान देकर प्रसन्न होना चाहिए। सोचना चाहिए कि आज मुझे दान देने का सुअवसर मिला, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। छह् काय के जीवों का आरभ-समारंभ करके जो वस्तु प्राप्त की थी, उसका सदुपयोग हुआ, यह बडे आनन्द की बात है।

(३) जिसे दान दो, सन्मानपूर्वक दो।। अनादर के साथ दिया हुआ दान वृथा चला जाता है।

इन तीन भूपणो के विपरीत दान के तीन दूपण हैं—(१) समय पर न देना। (२) दान देकर पछतावा करना कि—हाय,

लिहाज या शर्म के वशीभूत होकर अपनी वस्तु खो दी। (३) अनादरपूर्वक दान देना—देते समय अच्छी भावना न होना। दुत्कार कर, गालियाँ दे-दे कर देना। भीख माँगते तुझे लाज नही आती! कायर, कामचोर कहो के! तुझे यही घर दिखाई दिया! क्या और सब लोग मर गये! इस प्रकार अपशब्द कहते हुए दान देने से दान का फल तुच्छ हो जाता है।

श्री स्थानांग सूत्र मे, नववे स्थानक मे नौ प्रकार के पुण्यों का तथा दसवे स्थानक मे दस प्रकार के दानों का प्रतिपादन किया गया है। अवसर आएगा तब इन पर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

दान सुख का कारण है तो दान मे अन्तराय डालना दुःख का कारण स्वय सिद्ध हो जाता है। वास्तव मे ऐसा करना घोर पातक है। कई लोग ऐसे भी है जो स्वय देते नही, दूसरों को देने देते नही और देते को भला भी नहीं समझते। वे जानते है कि दूसरे देगे तो हमें भी शर्माशर्मी देना पड़ेगा। धीरे-धीरे पानी का रेला हमारे पास तक आएगा। आग सुलगती-सुलगती हमारे द्वार तक भी आ पहुँचेगी। ऐसा सोच कर चालाक लोग दूसरो को भी नही देने देते। जब किसी असहाय व्यक्ति अथवा किसी सस्था को कुछ देने का प्रसग आता है, तब उस व्यक्ति या सस्था की बुराई करने लगते है, जिससे उसे कोई दान न दे और सहज खुद का पिंड छूट जाय!

कई लोग अपनी मिथ्या धारणाओं से प्रेरित होकर दान देने मे पाप मानते है और एकान्त पाप कहते हैं। वे साधु के सिवाय सब को कुपात्र कहते है। उनका कहना है कि

—'दान तो छह काय का कूटा है।' खुद के लिए सब कुछ चाहिए, किन्तु जब किसी दीन, हीन दुखी को देने की बात आती है, तब छह काया का कूटा और हिंसा की बात सामने ले आते है। आज इतना समय नही है कि इस प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा पर विशेष प्रकाश डाला जाय। समय मिला तो फिर कभी विस्तार के साथ इस सबंध मे विचार किया जायगा। आज तो यही कहूँगा कि इस प्रकार की धारणा गलत है और आप अपने अन्त करण मे इस संकीर्ण स्वार्थमय और विपरीत धारणा का प्रवेश न होने दे। शुद्ध बुद्धि से और शुभ भावना से दान देने पर पुण्यफल की प्राप्ति होती है और सुख मिलता है, ऐसा शास्त्रीय विधान है। कहा भी है—

इय मोक्षफले दाने, पात्रापात्र विचारणा।
दयादान तु सर्वज्ञैः कुत्रापि न निषिद्धते॥

दान कई प्रकार के होते है। मोक्ष के उद्देश्य से दिए जाने वाले दान मे सुपात्र कुपात्र का विचार किया जाता पर करुणादान मे यह विचार नही किया जाता। सर्वज्ञ भगवान् ने करुणादान कहा भी निषिद्ध नही ठहराया है। सभी जीव, चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो, स्वधर्मी हो अथवा विधर्मी हो, सयमी हों या असयमी हो, दया-दान के पात्र है।

मेवाड़ की बात है। एक व्यक्ति धर्मक्रिया करने मे तो आगे रहता था, परन्तु दान देने का प्रसङ्ग आता तो बहाने-बाजी करके टालमटूल कर दिया करता था। जब कभी चंदा देने का अवसर आता तो 'इसमे हिंसा होती है' कहकर टाल दिया करता था। कदाचित् दबाव मे आने पर देना पडता तो दी

हुई रकम को आरंभ खाते में लिखता, सुकृत खाते मे नही ! यह सद्गुरुओ की शिक्षा का प्रभाव नहीं, कुगुरुओ की शिक्षा का प्रभाव है !

नहीं देने के तेरह बोल हैं। यह बोल मै तुम्हें नहीं बतलाऊँगा। तुम लोग होशियार हो, मगर मै भी तुम्हारा गुरु हूँ। नही देने की बात नही करनी चाहिए और ऐसे बोल भी नही सीखने चाहिए। जब तक अन्त.करण मे कपट है, लोभ है, तब तक ऐसे बोल सीखने का दुरुपयोग किया जा सकता है।

श्रावक का अभंगद्वार होता है। अर्थात् दान देने के लिए उसके घर का द्वार सदा खुला रहता है। शास्त्र मे तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आया है। उस वर्णन मे यह भी उल्लेख है कि वे श्रावक 'अभगदुवारे' थे। साधु-सन्तो दीनों, अनाथो और जरूरतमंदो के लिए उनके घर सदा खुले रहते थे।

राजकोट मे खाने के वक्त लोगो के द्वार बंद रहते हैं। साथ मे आदमी हो तब तो ठीक, वर्ना साधु को सथारा करना पड़े। श्रावकों को खास तौर से इस बात का विवेक रखना चाहिए। द्वार खुले रहेंगे तो कोई भोजन पर डाका नही डाल देगा, जबरदस्ती छीन कर नहीं ले जायगा। समझना चाहिए कि दुकान खुली रहती है तभी ग्राहक आते है। घर के द्वार तक आकर कोई साधु-सन्त बिना आहार लिए लौट जाएँ, यह श्रावको के लिए सह्य नही होना चाहिए। यह बात आपको स्वय सोचनी चाहिए। वनियों को अक्ल, कोयल को गाना और मोर को नाचना कौन सिखाता है ?

हाँ, धर्म के चार भेदों में अथवा यो कहिए कि मोक्ष के

चार साधनो मे दान की गणना प्रथम की गई है —

वीतराग-उपदेश में, चार प्रकार धर्म,
दान शील तप भावना, साधन को शिवशर्म ॥

यह सब आप जानते हो। जानते तो सब हो, मगर फिर भी गड़बड़ मे पड़ जाते हो। छोकरा बहुत सुन्दर है, पर कभी-कभी मूर्छा आ जाती है। प्रमाद आ जाता है।

भाइयो! मुक्ति के साधनो मे दान का पहला नबर क्यो है? वास्तव मे इसमे बड़ा रहस्य छिपा है। कोई महान् हेतु रहा है। उसे सब लोग नही जानते। मै आपको बता दूं? ध्यान से सुनिए। तप करने से तपस्वी की ही आत्मा को लाभ पहुँचता है। तपस्वी के ही कर्मों की निजरा होती है। शील का पालन करने से शीलवान् को ही लाभ होता है। उसी का शरीर स्वस्थ, दृढ़ और ओजपूर्ण रहता है। उसी की आत्मा मे शान्ति, समाधि और निराकुलता रहती है। इस प्रकार शील का फल भी कर्त्ता तक ही सीमित रहता है। इसी प्रकार शुभ भावना भाने से, शुद्ध और उदास विचारो के निर्मल नीर में अवगाहन करने से भावना भाने वाले को ही लाभ होता है। इन तीनों साधनों का फल प्रधानत कर्तृनिष्ठ है। परन्तु दान में यह विशेपता है कि उससे दाता को भी लाभ होता है और आदाता को भी लाभ होता है। शुभ भाव से दान देने वाला दाता पुण्य का बध करता है। अगर संयमधारी मुनि को शुद्ध भाव से, गुरुबुद्धि से दान देता है तो कर्मों की निर्जरा का लाभ करता है और संसार को परीत करता है। और जो उस दान को ग्रहण करता है वह भी देय वस्तु का उपभोग करके शान्ति प्राप्त करता है,

अहकार के दैन्य का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए। वह दान की पवित्रता को कलङ्कित कर देता है। कर्त्तव्य समझ कर दान करना चाहिए समाज का, देश का अपने ऊपर ऋण मान कर, उससे उऋण होने की भावना से दान देना चाहिए। ऐसा दान ही महान् फल देने वाला होता है।

लोग लक्ष्मी कम हो जाने के भय से दान देने मे संकोच करते है। मगर समझना चाहिए कि दान से लक्ष्मी कम नहीं होती। धन किसी के साथ जाने वाला नही। हाँ, साथ ले जाने का एक ही उपाय है—दान देना, ममत्त्व उतारना। कपड़े की पोटली बॉध कर या पेट में रखकर धन को परलोक में नहीं ले जा सकते। दान देकर ले जा सकते हो।

कहा है—

जगत में सभी सौख्य पाएगे दानी,
नाम जिन्दों में अपना लिखाएंगे दानी। टेर।
नही सङ्ग जाता है यह धन किसी के,
मगर सङ्ग ले अपने जाएंगे दानी ॥ १ ॥
बढे कूप-जल है निकलने से जैसे,
यूं लक्ष्मी को अपनी वढाएँगे दानी, ॥ २ ॥
दिया दान जिसने मिला फल उसी को,
घर स्वर्गों में अपना बनाएंगे दानी ॥ ३ ॥
दिये से उजाला ज्यूं होता है घर में,
अध्यातम अंधेरा मिटाएँगे दानी ॥ ४ ॥

यह हिन्दी भाषा की कविता है। आशय यह है कि दान करने से सब प्रकार की सुविधा प्राप्त होती है। आपके परलोक मे पहुँचने से पहिले ही वहाँ आपके लिए सब सुख-सुविधाएँ

हो जाएँगी, मगर शर्त यही है कि इस लोक मे दान दिया हो। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे देवगति के उत्कृष्ट सुख भोगने के पश्चात् दानी की क्या स्थिति होती है, वह भी बतलाया गया है। कहा है—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं,
चत्तारि काम खंधाणि, तत्थ से उव वज्जई ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोये य वण्णवं ।
अप्पाप के महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तराध्ययन, ३, गा. १७–१८

जिस मनुष्य ने पहले दान दिया है, अन्तराय को तोड़ा है, वह उस खानदान मे जन्म ग्रहण करता है, जहाँ खेती के लिए विशाल जमीन हो, रहने के लिए बड़े भवन हों, घर में सोने-चाँदी के ढेर हो, दूध-घी के लिए गाय-भैंस आदि पशु हों, दास हों, दासियाँ हो, पुरुषार्थ हो, चार प्रकार के कामस्कध हों। उसके अनेक मित्र होते है, अनेक ज्ञातिजन होते हैं, वह उच्चगोत्री तथा स्वरूपवान् होता है। उसके शरीर मे किसी प्रकार का रोग नही होता—वह स्वस्थ होता है। उसकी बुद्धि सत् असत् का विवेक करने वाली और तीव्र होती है। वह विनीत, यशस्वी और बलवान होता है। यह सब दान की महिमा है।

भाइयो! सुखी बनने का उपाय है दूसरों को सुखी बनाना। आप अगर अन्य प्राणियो को साता उपजाते है तो स्वय साता पाएँगे और यदि असाता उपजाते हैं तो आपको भी असाता का पात्र बनना पड़ेगा। शास्त्र में कहा है—

'पाणाणं भूणाणं जीवाण सत्ताणं दुक्खणियाए, सोयणियाए, झूरणियाए, तिप्पणियाए, पिट्टणियाए परितावणियाए।'

अर्थात् प्राणियों भूतों जीवों और सत्वो को विविध प्रकार से सताने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

एक सेठ जी का तनसुखदास जी नाम था। मगर उन्हे १०४ डिग्री बुखार बना रहता था। सिर मे दर्द, कान मे दर्द, पेट मे और आँखों मे भी दर्द ! ऐसी दशा में नाम तनसुखदास होने से क्या अर्थ सिद्ध हुआ ? वे पूर्वभव मे और इस भव में अनेक प्राणियो को असाता पहुँचाने का फल भोग रहे थे। भाषा-काव्य मे भी कहा है—

सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुख होय।
आप हणे नहिं और को, आपा हणे न कोय॥

जो दूसरो को पीड़ा नही पहुँचाते, नही सताते, वे साता-वेदनीय का बंध करते हैं। इस प्रकार साता अथवा असाता का बध करना आपके हाथ की बात है और लाभ प्राप्त करने की कुंजी भी आपके ही हाथ मे है।

जैन-धर्म स्पष्ट रूप से बतलाता है कि आत्मा ही सुख और दु.ख का कर्त्ता है। ईश्वर ऐसी झझटो मे नही पड़ता। वह तो कृतकृत्य और वीतराग है। जीव अपनी करनी से स्वय ही स्वर्ग की सृष्टि करता है और स्वयं ही नरक का निर्माण कर लेता है। स्वर्ग और नरक के द्वार खोलने के लिए चाबियाँ उसी के पास हैं।

अगर कोई व्यक्ति दान मे पाप बतला कर या और कुछ कहकर बाधा पहुँचाता है, तो वह अपने ही भावी लाभ में बाधा डालता है। घर-घर भीख माँगने पर भी उसे एक टुकड़ा मिलना कठिन हो जायगा। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ में अन्तराय पहुँचाता है, उसका लाभ रुक जाता है। वह

लाख प्रयत्न करके भी, जब तक लाभान्तराय का क्षयोपशम न कर ले, तब तक फूटी कौड़ी भी नही पा सकता। किसी के भोग और उपभोग में बाधक बनने से भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का बंध होता है। जो वस्तु एक ही बार भोगी जा सके, वह भोग कहलाती है, जैसे भोजन, पानी, दूध आदि। जो पदार्थ बार-बार भोगे जाते है, वे उपभोग कहलाते है, जैसे वस्त्र, पात्र आदि। धर्म मे पुरुषार्थ करने वाले को पुरुषार्थ करने से रोकना वीर्यान्तराय कर्म के बंध का कारण है। कर्म जिस प्रकार से बाँधे जाते है, उसी प्रकार से भोगने पड़ते है।

भाइयो! संसार के सभी लोग सुख चाहते है, मगर उन्हें सुख का मार्ग मालूम नही होता। सुख बाजार मे नहीं बिकता। वृक्ष पर नही लटकता कि आम की तरह तोड़ लिया जाय। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, सुख का कारण है दूसरो को सुख पहुँचाना। आप दूसरो को जितना सुख देगे, आपको भी उतना ही सुख मिलेगा।

जो स्वय पूर्ण सुखी है, उसका शरण ग्रहण करने से ही आपको सुख की प्राप्ति होगी। अरिहन्त प्रभु अनन्त सुख के भाजन हैं, उन्ही की शरण मे जाओ। उनकी पूजा, आराधना, सेवा और भक्ति करो। ऐसा करने से आप सुखी होगे।

राजकोट
२०-७-५४

———

: ३ :

सुख का हेतु

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

प्रिय सुज्ञ पुरुषो तथा बहिनो !

कल आपको बतलाया गया था कि संसार के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी है और उस दुर्दान्त अभिलाषा से प्रेरित होकर सुख-प्राप्ति के लिए रात-दिन प्रयास किया करते हैं। सुख क्या है, कितने प्रकार का है और कैसे उसे प्राप्त किया जा सकता है ? इन बातो पर भी प्रकाश डाला गया था। फिर भी जिस सुख ने समग्र प्राणी-जगत् को अपने वशीभूत बना लिया है, जो जीव-मात्र की आकाक्षा का मुख्य केन्द्र-बिन्दु बना हुआ जिसके लिए सारा ससार पच रहा है, वह ऐसा नही जिसके विषय में थोड़ी-सी बात कह दी जाय और छुट्टी पा ली जाय ! वह विषय बहुत विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। कहने वाला चाहिए और उसमें कहने की शक्ति चाहिए, फिर तो चाहे जितना कहा जा सकता है। मेरे पास सीमित समय है और सीमित ही वचनशक्ति है, अतएव सीमित वचनो मे ही आपको सुख के सबंध में कुछ बाते बतलाना चाहता हूँ।

जब हम शान्ति के साथ विचार करते हैं कि प्रत्येक प्राणी

के जीवन का एक मात्र साध्य, जीवन के प्रबल पुरुषार्थ का प्रयोजग सुख तो है. पर उन्हे सुखो की अभिलापा क्यों है ? सुख के लिए इतनी तमन्ना और इतनी लगन होने का कारण क्या है ? इस आकर्षण और प्रयास के पीछे क्या हेतु समाया हुआ है ? तब हमे इस विषय की गभीरता का पता चल जाता है।

यह तो एक निर्विवाद सिद्धान्त है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। समस्त दर्शनशास्त्र और विज्ञान भी इस तथ्य से सहमत है। जहाँ कारण होगा वही कार्य की उत्पत्ति होगी और कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव होगा। आटा हो तो ही रोटी बनती है और सूत के होने पर ही वस्त्र बन सकता है। आटा, रोटी का और सूत वस्त्र का कारण है।

यद्यपि यह सत्य है कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण अनिवार्य है, तथापि हमारी आवश्यकताएँ कारण से नही मिटती, कार्य से मिटती है। भूख से जब पेट सुकड़ रहा हो तो आटा फाँकने से काम नही चलता। क्षुधा की उपशान्ति के लिए रोटी चाहिए। शीत से थर-थर काँपने वाले के सामने सूत की गाँठ रख दी गाय तो क्या उसके शरीर मे गर्मी आ जायगी ? नही ! शीत-निवारण के लिए तो सूत का कार्य अर्थात् वस्त्र की ही आवश्यकता है। घड़े का कारण मिट्टी है। घड़े मे पानी भरा जाता है अथवा अन्य कोई वस्तु रक्खी जाती है। मगर घड़े के कारण मृत्तिका से यह प्रयोजन सिद्ध नही होता। मृत्तिका में पानो भरकर नहीं रक्खा जा सकता। यह ठीक है कि कार्य, कारण के आधीन है, फिर भी कार्यसाधक तो घड़ा ही है।

इतना होने पर भी कारण का महत्व कम नहीं है। हमारे प्रयोजन को सिद्ध करने वाले कार्य की उत्पत्ति तो कारण के ही आधीन है। अतएव जब किसी कार्य के सँबध मे विचार करना हो तो सर्वप्रथम उसके कारणो पर ही विचार करना पड़ता है। कारण जुटाने पड़ते है और उनका समुचित प्रयोग करना पड़ता है।

जो पदार्थों के कार्य-कारणभाव को भली-भाँति नही समझता, वह वस्तुतत्त्व को भी नही समझ सकता। इस छोटे से वाक्य के विशद विवेचन मे उतरे तो कई दिन इसी मे लग जाएगे, और मूल विषय एक किनारे रक्खा रह जायगा। मगर उदाहरण के रूप में एक बात तो कहे ही देता हूँ। कई लोगों ने जगत् को कार्य माना तो कारण की समस्या उनके सामने उपस्थिति हुई। समग्र विश्व ही जब कार्य हो तो उससे अतिरिक्त कारण कहाँ से खोज कर लाएँ? इस परेशानी को दूर करने के लिए किसी ने कल्पना दौड़ाई—एक नित्य और सर्वव्यापी विराट् पुरुष है। जैसे कुम्हार घड़े को गढ़ता है, उसी प्रकार वह भी इस जगत् को गढ़ता है।

दूसरे ने पूछा—यह सृष्टि तो बड़ी विशाल है। इसमें बड़े बड़े हिमालय जैसे पहाड़ है, बड़े बड़े समुद्र हैं, विस्तृत रेगिस्तान और जङ्गल हैं। एक पुरुष, चाहे वह कितना ही विराट् क्यो न हो, कैसे सृष्टि का निर्माण कर सकता है? तब एक दूसरी कल्पना उठी। वह विराट् पुरुष अर्थात् ईश्वर अपने हाथों-पैरों से जगत् निर्मित नहो करता; वह मन से ही सब बना देता है। संकल्प करता है—पहाड़ खड़ा हो जाय! बस, पहाड़ खड़ा हो जाता है। वह सोचता है—सागर बन जाय!

सागर लहराने लगता है। इस प्रकार उसकी इच्छा मात्र से ही रेगिस्तान बन जाते हैं, बाढ़ आ जाती है, भूकम्प हो जाता है और प्रलय मच जाता है।

दूसरे प्रकार के लोग कहते हैं—समग्र ससार एक-मात्र चेतन रूप उपादान से बना हुआ है। तीसरे कहते है—नहीं, चेतन की कही स्वतन्त्र सत्ता ही नही। यह सब तमाशा जड़ का है। भूतों की करामात है। पाँच महाभूतों से ही चेतना और अन्य पदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार जगत् रूप कार्य के कारणो के विषय मे अनेकों मान्यताएँ चल पड़ी और चल रही है। उनमे से यहाँ तो थोड़ी-सी मान्यताएँ नमूने के तौर पर ही बतलाई गई हैं। उनके विस्तार मे मुझे इस समय नहीं जाना है।

परन्तु इन सब मान्यताओ के मूल में कार्य भाव कारण का अज्ञान ही छिपा है। जगत के कार्यकारणभाव को यदि सही रूप में समझ लिया जाय तो ऐसी निर्मूल कल्पनाएँ उठने ही न पावे। कठिनाई यह है कि जब कार्य कारणभाव गलत रूप मे समझ लिया जाता है तो उसके आधार पर खड़ी की गई सारी दीवाल ही गलत हो जाती हैं। तत्त्व की सारी शृंखला गडबड़ मे पड़ जाती है। एक विद्यार्थी कोई बड़ा-सा गणित का प्रश्न हल करने बैठता है। यदि वह प्रारभ मे ही कुछ सख्याओं के जोड़ मे भूल कर जाय तो सारा हिसाब गलत हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ कार्य-कारणभाव को समझने मे भूल हुई, वहाँ तत्त्व की व्यवस्था मे भी भ्रान्ति हो जाती है। अतएव यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि जब हम किसी भी प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करें, किसी भी समस्या

पर प्रकाश डालना चाहे, तो उसके कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध मे बहुत सावधानी और गम्भीरता के साथ सोच ले।

अगर हम कार्य-कारणभाव का सही निर्णय कर लेते हैं तो हमारे विचारों की गति सही दशा मे हो सकती है। अगर ऐसा न हो सका तो लाख सिर पटकने पर भी और हजारों कल्पना के घोड़े दौड़ाने पर भी हमारा निष्कर्ष समी चीन नहीं होगा। जब मूल मे ही भूल हो जायगी तो वह भूल तूल पकड़ती ही जायगी। इसी आशय से मैने कहा कि जो पदार्थों के कार्य-कारणभाव को भली भॉति नही समझता, वह वस्तु-तत्त्व को भी नही समझ सकता। अतएव सत्य तत्त्व का ठीक ठीक बोध प्राप्त करने के लिए कार्य-कारण के सबध को समझ लेना परम आवश्यक है।

असल मे प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति किसी एक कारण से नही वरन् सामग्री से होती है। जिस कार्य की उत्पत्ति के लिए जितने कारणो की अपेक्षा रहती है, वह सब मिलकर सामग्री कहलाते हैं। इस सामग्री मे दो प्रकार के कारणो का समावेश होता है —उपादान कारण और निमित्त कारण। जो कारण स्वय कार्य के रूप मे परिणत हो जाता है, वह उपादान कारण कहलाता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि कार्य की पूर्वकालीन पर्याय उपादान कारण है। यथा—आटा रोटी का उपादान कारण है; सूत वस्त्र का उपादान कारण है। और मिट्टी घट का उत्पादन कारण है। क्योंकि आटे से भिन्न रोटी कुछ नही है, वह आटे की उत्तरकालीन पर्याय ही है। वस्त्र सूत से भिन्न कुछ नही है। मिट्टी से भिन्न घट की कोई मौलिक सत्ता नही है। जो भेद है वह पर्याय में है। कारण पूर्वपर्याय है, कार्य उत्तरपर्याय है।

सुख का उपादान कारण स्वयं आत्मा है, क्योंकि सुख आत्मा का ही परिणति विशेष है। सुख की आत्मा से भिन्न कोई मौलिक सत्ता नही है। वह बाहर से आकर आत्मा मे नही घुस गया है।

जो कारण, कार्य की उत्पत्ति मे सहायक होता है, साधन के रूप मे उपयोगी होता है और कार्य के उत्पन्न हो जाने पर अलग का अलग रह जाता है, वह निमित्त कारण कहलाता है। रोटी बनाने मे चूल्हा, बेलन, चकला, बनाने वाली बाई, अग्नि आदि; वस्त्र बुनने मे जुलाहा, मशीन आदि, घड़े की उत्पत्ति मे कुम्हार, चाक, डंडा आदि निमित्त कारण हैं। निमित्त कारण कार्य मे साधक बन कर दूर हो जाते है।

उपादान और निमित्त—दोनो ही कारण स्वतन्त्र हैं; फिर भी कार्य की उत्पत्ति मे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। कार्य की उत्पत्ति न अकेले उपादान कारण से होती है और न अकेले निमित्त कारण से ही। दोनो के होने पर ही कार्य बन सकता है। वृक्ष की उत्पत्ति के लिए बीज भी चाहिए तो भूमि, मिट्टी, पानी आदि भी चाहिए। तभी वृक्ष उग सकता है।

[व्याख्यान के समय शोर-गुल कतई नही होना चाहिए। शास्त्र श्रवण का बड़ा महत्व है। शास्त्र श्रुत ज्ञान है। सब ज्ञानों मे श्रुत ज्ञान की बड़ी महिमा है। साध्य दृष्टि से केवल ज्ञान बड़ा है, किन्तु साधन दृष्टि से श्रुत ज्ञान की महत्ता है। श्रुत ज्ञान की बदौलत ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रुतज्ञान से ही अवधि-ज्ञान और मन पर्यवज्ञान का लाभ होता है। यही ज्ञान सब ज्ञानो का जनक है। अतएव आप सब भाइयों और बहिनों को मेरी हिदायत है कि ध्यानपूर्वक व्याख्यान सुनो।

लगन एव प्रीति के साथ व्याख्यान सुनने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और बुद्धि का विकास होता है।]

उपादान कारण नित्य है, शाश्वत है, अमिट है। घड़ा बनने से पहले भी मिट्टी थी, बन चुकने पर भी मिट्टी है और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी मिट्टी बनी रहेगी। मिट्टी रूप द्रव्य का नाश नही होता, वह सदा कायम रहता है। द्रव्य नित्य है, उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। मिट्टी का नाम और रूप बदल सकते है, मूल वस्तु नहीं बदलती। अतएव उपादान नित्य होता है।

एक कार्य के अनेक निमित्त कारण होते हैं। उदाहरण के लिए घड़े को ही ले लीजिए। कुम्भकार के होने से ही घड़ा नही बन जाता। जंगल मे से मिट्टी ढोकर लाने के लिए गधे की आवश्यकता होती है। जब मिट्टी घर पर आ जाती है, तो उसे कूटने के लिए मोगरी की आवश्यकता होती है। कुट जाने के बाद मिट्टी पानी मे भिगोई जाती है और फिर गूँदी-मसली जाती है। तत्पश्चात् पिण्ड बनाकर चाक पर चढ़ाई जाती है। उसके बाद कुम्भकार अपने दिमाग मे रहे हुए आकार के अनुसार चाक का हत्था हिलाता हुआ, धीरे-धीरे घट की पूर्व अवस्था का निर्माण करता है। फिर अनेकानेक अवस्थाएँ, जिन्हे स्थास, कोश, कुशूल, शिवक, छत्रक आदि के नाम से पुकारा जाता है, धारण करने के पश्चात् अन्त में घट की आकृति बनती है।

यहाँ तक घड़े की कच्ची आकृति मात्र बन पाई है। उसमें ताकत नहीं आई। ताकत लाने के लिए कच्चे घट को कुम्हार चाटली से ठोक-ठोक कर ठीक करता है। इतनी मार सह लेने

पर भी घड़ा अभी तक पानी रखने लायक नही बन पाया है। इस समय उसमे पानी भर दिया जाय तो बेचारा गल जायगा और फिर मिट्टी के रूप मे परिणत हो जायगा। अब तक का सारा श्रम मिट्टी मे मिल जायगा। घड़े की कठिन परीक्षा अभी शेष है।

घड़ा चाटली की चोटे खा-खा कर जब कुछ मजबूत बन जाता है, तब वह आखिरी परीक्षा मे सम्मिलित होता है। कुम्हार इधर-उधर से कूड़ा-कचरा और ईंधन इकट्ठा करता है और घड़े को उसमे रख कर आग लगा देता है। आग मे तपने के बाद जब बाहर निकलता है, तब घड़ा पक्का बनता है। मगर इतने पर भी बेचारे की खैर नही। जो भी उसे खरीदने जाता है, वही टकोरे मार-मार कर उसको परीक्षा करता है।

मित्रो! इतनी मुसीबते झेलने के पश्चात् ही घड़ा पात्र बन पाता है। पात्र बनने के लिए उसे कितने निमित्त कारणो की आवश्यकता है, यह आप देख चुके हैं। मानव प्राणी भी मिट्टी के सदृश है। अगर उसे परमात्मा बनना है तो घड़े की तरह अनेक कष्ट सहन करने होगे। कष्ट सहन किए बिना कोई ऊँचा नही उठ सकता, तरक्की नही कर सकता। कहावत है—'रग लाती है हिना, पत्थर पर पिस जाने के बाद।' जब मेहदी पत्थर पर खूब पीसी जाती है, तब रग देती है। ज्यों-ज्यों अधिक पिसती है, अधिक-अधिक रंग देती जाती है। इन्सान के विषय मे भी यही बात है। वह जितने-जितने कष्ट सहन करेगा, उतना ही उतना महान बनता जाएगा।

दूसरे-वस्त्र के दृष्टान्त को देखिए। वस्त्र ऊँची क्वालिटी का कब बनता है? इसके लिए उसे कई हालतों में से गुजरना

लगन एव प्रीति के साथ व्याख्यान सुनने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और बुद्धि का विकास होता है।]

उपादान कारण नित्य है, शाश्वत है, अमिट है। घड़ा बनने से पहले भी मिट्टी थी, बन चुकने पर भी मिट्टी है और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी मिट्टी बनी रहेगी। मिट्टी रूप द्रव्य का नाश नहीं होता, वह सदा कायम रहता है। द्रव्य नित्य है, उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती है। मिट्टी का नाम और रूप बदल सकते हैं, मूल वस्तु नहीं बदलती। अतएव उपादान नित्य होता है।

एक कार्य के अनेक निमित्त कारण होते हैं। उदाहरण के लिए घड़े को ही ले लीजिए। कुम्भकार के होने से ही घड़ा नही बन जाता। जंगल मे से मिट्टी ढोकर लाने के लिए गधे की आवश्यकता होती है। जब मिट्टी घर पर आ जाती है, तो उसे कूटने के लिए मोगरी की आवश्यकता होती है। कुट जाने के बाद मिट्टी पानी मे भिगोई जाती है और फिर गूँदी-मसली जाती है। तत्पश्चात् पिण्ड बनाकर चाक पर चढ़ाई जाती है। उसके बाद कुम्भकार अपने दिमाग मे रहे हुए आकार के अनुसार चाक का हत्था हिलाता हुआ, धीरे-धीरे घट की पूर्व अवस्था का निर्माण करता है। फिर अनेकानेक अवस्थाएँ, जिन्हे स्थास, कोश, कुशूल, शिवक, छत्रक आदि के नाम से पुकारा जाता है, धारण करने के पश्चात् अन्त में घट की आकृति बनती है।

यहाँ तक घड़े की कच्ची आकृति मात्र बन पाई है। उसमें ताकत नही आई। ताकत लाने के लिए कच्चे घट को कुम्हार चाटली से ठोक-ठोक कर ठीक करता है। इतनी मार सह लेने

पर भी घड़ा अभी तक पानी रखने लायक नहीं बन पाया है। इस समय उसमे पानी भर दिया जाय तो बेचारा गल जायगा और फिर मिट्टी के रूप मे परिणत हो जायगा। अब तक का सारा श्रम मिट्टी मे मिल जायगा। घड़े की कठिन परीक्षा अभी शेष है।

घड़ा चाटली की चोटे खा-खा कर जब कुछ मजबूत बन जाता है, तब वह आखिरी परीक्षा मे सम्मिलित होता है। कुम्हार इधर-उधर से कूड़ा-कचरा और ईंधन इकट्ठा करता है और घड़े को उसमे रख कर आग लगा देता है। आग मे तपने के बाद जब बाहर निकलता है, तब घड़ा पक्का बनता है। मगर इतने पर भी बेचारे की खैर नही। जो भी उसे खरीदने जाता है, वही टकोरे मार-मार कर उसको परीक्षा करता है।

मित्रो! इतनी मुसीबते झेलने के पश्चात् ही घड़ा पात्र बन पाता है। पात्र बनने के लिए उसे कितने निमित्त कारणो की आवश्यकता है, यह आप देख चुके हैं। मानव प्राणी भी मिट्टी के सदृश है। अगर उसे परमात्मा बनना है तो घड़े की तरह अनेक कष्ट सहन करने होगे। कष्ट सहन किए बिना कोई ऊँचा नही उठ सकता, तरक्की नही कर सकता। कहावत है—'रग लाती है हिना, पत्थर पर पिस जाने के बाद।' जब मेहदी पत्थर पर खूब पीसी जाती है, तब रंग देती है। ज्यों-ज्यों अधिक पिसती है, अधिक-अधिक रंग देती जाती है। इन्सान के विपय मे भी यही बात है। वह जितने-जितने कष्ट सहन करेगा, उतना ही उतना महान बनता जाएगा।

दूसरे-वस्त्र के दृष्टान्त को देखिए। वस्त्र ऊँची क्वालिटी का कब बनता है? इसके लिए उसे कई हालतों में से गुजरना

पड़ता है। सर्व प्रथम कपास को अपने परिवार से बिछुड़ना पड़ता है और यंत्र मे सिर देना पड़ता है। तब वह रुई बनती है। रुई बेचारी पर पिंजारे की तांत धॉय-धॉय करती है और उसकी चमड़ी उधेड़ देती है, अर्थात् रुएँ-रुएँ को जुदा-जुदा कर देती है। इतने पर भी वस्त्र नही बन पाता। पुन रुई को कातना पड़ता है, तार के रूप मे बनना पड़ता है और तार को ताने-बाने का रूप धारण करना पडता है। तत्पश्चात् उसे जुलाहे की चकली मार खानी पड़ती है। चकली से जुलाहा तारों को एक दूसरे के समीप लाकर मजबूत बनाता है। फिर कपड़े की धुलाई होती है—वह मुद्गरो की मार सहन करता है। आज कल के मिलो मे मशीन से धुलाई होती है, परन्तु देशी पद्धति मुद्गरो से पीट-पीट कर धोने की है। इतने कष्ट सहन करने पर कपास का वस्त्र बनता है। तब वह बाजार में बिकता है और पहनने योग्य बनता है।

बड़ा आदमी बनने के लिए भी महान् कष्ट सहन करने पड़ते है। कोई महत्ता प्राप्त करना चाहे और कष्टों से भी बचना चाहे, यह सम्भव नहीं है। ऊखल मे सिर देना और मूसल से डरना, यह बात नही चल सकती। उच्च और महान् जीवन का निर्माण करने के लिए सदैव आपत्तियाँ सहन करने के लिए उद्यत रहना होगा। आपत्ति से डरने वाला, आपत्ति आते ही घुटने टेक देने वाला, कभी बड़ा नहीं बन सकता। जो आई हुई आपत्ति को दृढ़ता और वीरता के साथ सहन करता है और कभी-कभी आपत्ति आमंत्रण देकर बुलाता, उसके साथ संघर्ष करता और उस पर विजय प्राप्त करता है, वही बड़ा बन पाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर की जीवनी से हमे बहुत मूल्यवान् शिक्षाएँ मिलती हैं। भगवान् ने अपने

साधन काल में भयकर कष्ट सहन किये थे। उस सहिष्णुता के फल-स्वरूप उन्हें महान् सफलता और सिद्धि प्राप्त हुई।

लौकिक दृष्टि से महान् सफलता प्राप्त करने वाले वीर पुरुषों के चरितों को आप देखेंगे तो भी यह तत्त्व आपको मिलेगा। जिसने जितनी विपत्तियाँ सहन की, उसे उतनी ही अधिक सफलता मिली। अतएव उच्च जीवन का निर्माण करने के लिए सदैव आपत्तियाँ सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। आपत्तियाँ आने पर जो कायर बन जाता है, अपने ध्येय से विचलित हो जाता है और हथियार डाल देता है, वह अपने जीवन में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं पा सकता। वह बड़े काम नही कर सकता, बड़ा नही बन सकता।

उर्दू भाषा के एक कवि ने बड़ा ऊँचा शेर कहा है —

किस कदर सीमाब है बेताब मरने के लिए।
शौक है अकसीर कहलाऊँगा मर जाने के बाद॥

उर्दू मे सीमाब पारे को कहते हैं, धातु-शोधक को पारा कहता है ऐ। धातु-शोधक दूसरी धातुओ को क्यों मारता है, मुझे मार जिससे मैं जहर की जगह अकसीर बन जाऊँ। मगर ऊँचे भाव की परीक्षा करने वाले परीक्ष विरले ही होते हैं। रत्न की कीमत जौहरी ही कर सकते हैं। संस्कृत के एक कवि ने सच ही कहा है :—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्ष,
स तं सदा निन्दति नाघ चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातां
मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम्॥

अर्थात्—जो जिसके गुणों को नही जानता है, वह उसके

गुणों की निन्दा करता है तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ? भीलनी गजराज के मस्तक के मोती को छोड़ कर गुञ्जाफल (चिरमी) को गले लगाती है। इसमे उस बेचारी का क्या दोष है ? उसे मोती का महत्त्व ज्ञात नही है। वह गुञ्जा को ही जानती है। उसके मन मे गुञ्जा का ही मोल है। वह गज-मुक्ता को उसके सामने तुच्छ समझती है।

परख करने वाला व्यक्ति ही उत्तम वस्तु की कीमत आँक सकता है। मूर्ख की मति मे कङ्कर और रत्न दोनों समान हैं।

बेचारी भीलनी ने गजमुक्ता का मूल्य समझा ही नही था। वह कैसे समझती, उसके बाप-दादों ने भी नही समझा था। ऐसी स्थिति मे अगर वह मुक्ता त्याग कर गुञ्जा को ही ग्रहण करती है तो उसे क्या कहा जा सकता है।

मुक्ता जानते हो ? मोती को मुक्ता कहते हैं। मोती मे ज्योति चमकती है। मोती मे पानी होता है। जो मोती पानीदार होता है, उसी की कीमत अधिक होती है। मोती मे पानी का अर्थ है—झलक, तेज, प्रकाश या दीप्ति।

याद रक्खो, पानी का ही मोल है। कूप या सरोवर में पानी हो तभी उनकी शोभा है, तभी उनका मूल्य है। पुरुष में भी पानी हो—धार्मिक वीर्य-शक्ति हो, तभी उसे महत्त्व प्राप्त होता है। घोड़े का मूल्य भी पानी पर ही निर्भर है। जिस घोड़े में जितना पानी अर्थात् वेग होता है, वह उतना ही उत्तम घोड़ा समझा जाता है। विलायत की महारानी का घोड़ा रेस-दौड़ की प्रतियोगिता मे विजयी हुआ है। उस खुशी मे महारानी ने पार्टियाँ दी, लोगों ने उन्हे वधाइयाँ दी। अखवारों मे बड़े-बड़े अक्षरों में समाचार छपे। यह सब किसके पीछे हुआ ? इसीलिए

कि महारानी का घोड़ा पानीदार था ! वास्तव मे पानी ही की जीत होती है ।

मैं विहार करते-करते जसदरण पहुँचा । वहाँ के र.जा को घोड़ों का वड़ा शौक था । उसने बहुत-से घोड़े पाल रक्खे थे । वर्षा के कारण मुझे गढ़ मे रुकना पडा । मुझे दो घोड़े बतलाये गये । एक-एक वर्ष का था, दूसरा दो वर्ष का । एक वर्ष वाले का मूल्य वीस हजार रुपया और दो वर्ष की उम्र वाले का पचहत्तर हजार रुपये । इतनी कीमत में वह बिक चुका था । तात्पर्य यह है कि घोड़े का मूल्य उसके डीलडौल से नही है, मगर इस बात से है कि उसमें कितना पानी है, कितना वेग है ।

मनुष्य की कद्र भी उसके पानीदार होने मे ही है । मनुष्य मे स्वाभिमान होना चाहिए, आत्मगौरव का भाव होना चाहिए । उसे समझना चाहिए कि मेरे भीतर सिद्धो-जैसी आत्मा विराजमान है । उसे अपमानित नहीं होने देना चाहिए । दूसरो की नजरों मे और अपनी निज की दृष्टि मे अपने आपको गिरने नही देना चाहिए ।

अभिमान और स्वाभिमान मे वड़ा अन्तर है । अभिमान त्याज्य है, क्योकि वह गिराने वाला दुर्गुण है । स्वाभिमान त्याज्य नही है, क्योकि उसके कारण मनुष्य गिरने से वचता है । जब मनुष्य पतनोन्मुख होता है तो स्वाभिमान उसके पतन को रोक देता है । अभिमान पर-वस्तु का होता है, स्वाभिमान निज गुणों का होता है । मनुष्य को अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणो का गौरव होना चाहिए ।

मगर इस विषय में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है । स्वाभिमान और अभिमान के वीच मे कोई मोटी दीवार नहीं,

पतली-सी रेखा है। कभी-कभी अनजान में ही वह रेखा धुंधली हो जाती है और मनुष्य स्वाभिमान की सीमा का उल्लंघन करके अभिमान के क्षेत्र मे पहुँच जाता है। ऐसा न होने देने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने प्रति गौरव का भाव तो रक्खे, मगर दूसरो को तुच्छ, नगण्य, नाचीज और छाया के समान न समझे। स्वाभिमानी मनुष्य जैसे अपने प्रति सन्मान भावना रखता है, उसी प्रकार दूसरों के प्रति भी सन्मान का भाव रखता है। अहङ्कारी अपने आपको ही सब-कुछ समझ कर दूसरो को अपने सामने तुच्छ समझता है। परन्तु याद रखिए, दूसरो को तुच्छ समझने वाला स्वयं तुच्छ होता है। स्वाभिमानी किसी का अनादर, अपमान या तिरस्कार नहीं करता। वह धर्म के लिए प्राण तक समर्पण कर देता है। जिसे अपने धर्म का गौरव नहीं होगा, वह त्याग नहीं कर सकता।

हाँ, बात यह कह रहा हूँ कि मोल पानी का है। जमीन की कीमत भी पानी से है। भीलनी ने पानीदार मोती देखा, पर उसके सामने चिरमी भी पड़ी थी। चिरमी मे दो रंग थे। दुनिया एक रंग की कीमत करना नहीं जानती, दो रंग की कीमत करती है। दुनियाँ दुरंगी है—

दुनिया दुरंगी मुकर्रे सराय,
कहीं खैर खूबी कहीं हाय-हाय।

सराय में ठहरने का समय मुकर्रर होता है। प्राणी-मात्र की उम्र भी इसी प्रकार नियत होती है। समय पूरा हो जाता है और मुसाफिर बना रहता है तो धर्मशाला का नौकर कहता है—अपना बोरिया-बण्डल उठा कर यहाँ से चले जाइए इसी प्रकार आयु निश्शेष हो जाने पर मनुष्य को भी यहाँ से चला

जाना पड़ता है—परलोक सिधार जाना होता है। अतएव संसार को भी मुसाफिरखाना ही कहा जाता है।

यह ससार-सराय एकरंगी नही, दुरगी है। कही आनन्द की रंगरेलियाँ हो रही हैं तो कही हाय-हाय का हृदय को हिला देने वाला करुण आक्रन्दन हो रहा है:—

काहू घर पुत्र जायो, काहू के वियोग आयो,
काहू राग रंग काहू रोया-रोई परी है।

यह तो प्रतिदिन अनुभव मे आने वाली घटनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त हानि-लाभ, मान-अपमान, दु ख-सुख, सयोग-वियोग आदि के द्वन्द्व दुनिया मे विद्यमान ही हैं। इस दुरगी दुनिया मे रहकर इकरगा रह जाना साधारण बात नही है। मगर दुरंगापन त्याग कर इकरंगा बने बिना मनुष्य का कल्याण नही हो सकता, एक साथ दो घोड़ों पर सवारी करने वाले का पतन अवश्यंभावी है।

दुरंगी को छोड कर एक रंग होजा,
या मोम होजा या संग होजा।

'गदहा भाई राम राम! और कुत्ता भाई राम राम!' यह भी कोई प्रामाणिकता या बफादारी है। यहाँ आकर मुख-वस्त्रिका बाँध ली और अन्यत्र गए तो वहाँ भी सिर टेक दिया, यह दुरंगापन हितकर नहीं है। जैसे गाड़रें इधर-उधर भागती हैं, वसे भागना उचित नहीं। इधर-उधर भागने वाली भेड़ों पर रखवाले का डडा पड़ता है। हम तो अहिंसा की उपासना करने वाले है। डंडे मार नहीं सकते परन्तु पथ-प्रदर्शन तो कर ही सकते हैं। साधु-भावी शब्दों मे वचन के डडे मार ही सकते है। जो समझदार है, वे ऐसी आवश्यकता उपस्थित नही

होने देते। भाइयो ! आप समझदार गुरू के शिष्य हो, समझदार पिता के पुत्र हो। हम आपसे भी समझदारी की आशा करते हैं।

जो भैरूजी के स्थान मे भी जाता है, शीतला माता के सामने भी मत्था टेकता है, लक्ष्मी जी की भी पूजा करता है और कल्पित भगवान् की भी भक्ति करता है, समझना चाहिए कि उसकी श्रौर बुद्धि में परिपक्वता नहीं आई है। वह एकनिष्ठ नही बना है। वह सत्य एवं असत्य का विवेक नही प्राप्त कर पाया है। उन लोगो पर यह उक्ति घटित होती है —

गये दोनों जहाँ से गुजर,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

मित्रो ! अपनी स्थिति पर जरा विचार करो। आप को बड़े पुण्योदय से निर्ग्रंथ निष्परिग्रह गुरु मिले हैं। दयामय धर्म मिला है। वीतराग देव प्राप्त है। अतएव इन्हीं पर दृढ़ विश्वास रक्खो। इधर-उधर मत भटको।

आते हैं फिर जाते हैं, उल्लू हैं काठ के।
धोबी के कुत्ते बन गये, घर के न घाट के॥

भाइयो ! आप अगर सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो वीतराग देव पर एकनिष्ठ प्रीति रक्खो, श्रद्धा रक्खो। आप वीतराग भगवान् के उपासक हैं। भगवान् चौतीस अतिशयों और पैंतीस वाणी के गुणों से युक्त हैं। अनन्त चतुष्टय से विभूषित हैं। परम ज्योतिर्मय, अनन्त सुख के पुञ्ज, निर्दोष, निष्कलंक और निरामय हैं। जब ऐसे देव की छत्र-छाया आपको प्राप्त है तो अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है ?

गजमुक्ता त्याग कर गुञ्जाफल को ग्रहण करने मे कोई बुद्धिमता नही है ।

हम लोग अनादि काल से कर्म-रोग से पीड़ित हैं। कर्म-शत्रुओ के कारण हम अपने अनन्त ऐश्वर्य और आध्यात्मिक साम्राज्य से वंचित हो रहे है। अगर आपके चित्त में उस साम्राज्य को पाने की अभिलाषा जागृत हुई है तो आप उन्हीं देव की शरण गहो जो 'तिन्नाण, तारयाणं, मुत्ताण, मोयगाणं, सव्वन्नूण, सव्वदरिसीण' है। अर्थात् जो स्वय संसार सागर से पार हो चुके हैं और दूसरों को भी पार लगाते है। जो स्वयं मुक्त है और दूसरो को मुक्त करते है। जो भूत, भविष्य और वर्त्तमान को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं। ऐसे जिनेश्वर देव की शरण ग्रहण करो, उनका ध्यान करो और उनके द्वारा प्रतिपादित पथ का अनुसरण करो। ऐसा करोगे तो बेड़ा पार हो जायगा।

जिसे अपना खुद का भान नही है, वह आपको कैसे तार सकेगा? हमारे वैद्यराज तो वह हैं जो अनन्त श्रोत्री और अनन्त नेत्री हैं, केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारक हैं। उनके समक्ष अपना रोग निवेदन करो।

सारांश यह है कि हमे एक तरफ हो जाना चाहिए। अपने मालिक परमात्मा पर विश्वास रखना चाहिए। हाथी अपने मालिक पर विश्वास रखता है तो उसका बड़ा पेट भी भर जाता है। कुत्ता अपने स्वामी पर विश्वास न रख कर घर-घर फिरता है तो अपना छोटा-सा पेट भी नहीं भर पाता!

कई लोग अनेक देवी-देवताओं की आराधना-पूजा किया करते हैं। वह सोचते है—किसी न किसी से हमारी मुराद पूर

हो ही जायगी ! एक देवता ने मुराद पूरी न की तो दूसरा कर देगा ! मगर इस प्रकार की चचलता से कोई कार्य नही होता। निष्ठा के बिना सिद्धि नहीं मिलती। मगर निष्ठा कहाँ लगानी चाहिए, यह निर्णय करने के लिए भी बड़ी समझदारी की जरूरत है।

लाहौर का किस्सा है। एक भक्त ने अपनी जीभ काट कर देवी को चढ़ा दी। उसका खयाल था कि पुरानी जीभ चढ़ा देने से नवीन जीभ मिल जायगी। मगर बेचारे को नई तो मिली नही, पुरानी भी चली गई। वह गूँगा हो गया और जिंदगी भर पछताता और रोता रहा। इस प्रकार अविवेकपूर्ण निष्ठा और भक्ति से लाभ के बदले हानि ही होती है। इससे आत्मकल्याण की तो कोई सम्भावना ही नहीं की जा सकती। विवेक मनुष्य का नेत्र है। नेत्रहीन पुरुष कही भी ठोकर खा सकता है। अपने मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है और मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार विवेक-विहीन जन भी आत्मकल्याण के बदले ठोकरे खाता है।

भाइयो ! आप विवेक पूर्वक एकनिष्ठ—एक रग-बनो। एक बार बादशाह अकबर ने वजीरों से पूछा—ससार मे पुरुष अधिक हैं या स्त्रियाँ ? सब वजीर विचार मे पड गये कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय ? उस समय आज के समान जानकारी के साधन सुलभ नहीं थे। सारे ससार की मनुष्य गणना के आकड़े उनके पास नही थे। उन्हे कोई लोकोत्तर ज्ञान भी नही था कि वे यह जान सके कि पुरुष अधिक हैं या स्त्रियाँ ! हमारे सर्वज्ञ देव तो बतला गये है कि स्त्रियो की सख्या सदैव ज्यादा होती है। पुरुषो की अपेक्षा सत्ताईस गुनी स्त्रियाँ

होती है और देवो से बत्तीस गुनी देवियाँ होती हैं। पर उन वजीरों को यह पता भी नही था। अकबर के वजीरों मे वीरबल प्रसिद्ध है। वह बड़ा होशियार और औत्पत्ति की बुद्धि वाला था। उसे पता था कि किसने बादशाह को यह प्रश्न करने के लिए प्रेरित किया है। अतएव वीरबल ने दूसरे वजीरों से कहा—चिन्ता मत करो। बादशाह के प्रश्न का उत्तर मैं दूँगा।

वीरबल ने बादशाह की सेवा मे जाकर कहा—हुजूर! आपके प्रश्न का उत्तर देना बहुत सरल है, मगर एक अड़चन बीच मे आती है। महरबानी करके उसे दूर कर दीजिए तो स्त्रियों और पुरुषो की गिनती करना सरल हो जाय! अड़चन यही है कि हीजड़े इस कार्य मे बाधक हो रहे हैं। वे कभी स्त्री का वेष धारण कर लेते हैं और कभी पुरुष का। 'कभी खाती थी' बोलते हैं तो कभी 'खाता था' बोलते हैं। अगर इन सब को मार डाला जाय तो रास्ता साफ हो जाय।

बादशाह ने हीजड़ो को बुलवा कर कहा—देखो भई, स्त्रियों-पुरुषो की गिनती तो की जा सकती है, किन्तु तुम लोगों का तौर-तरीका बीच मे बाधक हो रहा है। अतएव तुम सब को मार डालने का विचार किया जा रहा है।

बादशाह की बात सुन कर हीजड़ो का खून सूख गया। वे मुसीबत मे पड़ गये। लेने के देने पड़ गये। दूसरो के लिए गड्ढा खोदने चले तो खुद ही उसमें गिर गये। वास्तव में दूसरो का अनिष्ट चाहने वालो की ऐसी ही दशा होती है। जो दूसरो के घर मे आग लगाते हैं, उनके घर में भी आग लग जाती है। हीजड़े वजीरों को नीचा दिखाने चले थे, किन्तु खुद ही फँस गये। दरअसल अपनी पीड़ा को सब समझते हैं, दूसरो की पीड़ा समझने वाले विरले ही कोई होते हैं।

औरों की लगी को दिल्लगी मानते हैं,
अपनी लगी को लगी मानते हैं,

मनुष्य को पराई पीडा भी अपनी ही समझनी चाहिए। यही मनुष्य की मनुष्यता है। यही इह-परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति का मूल कारण है।

जो किसी एक देव, गुरु और धर्म पर विश्वास नहीं रखता और कभी इधर और कभी उधर हो जाता है, वह कौन है, यह आप स्वय सोच लीजिए। आपको मर्द होना चाहिए। नपुसक पन का उदय पाप से होता है। आप या तो मोम हो जाइए या सग। सग उर्दू में पत्थर को कहते हैं। आपको या तो मोम की तरह मुलायम बन जाना चाहिए या पत्थर की भाँति कठोर। बीच की स्थिति अच्छी नही।

भीलनी ने मोती को छोड़कर दो रंग वाली गुंजा को पसंद किया; क्योकि उसमे दो रंग थे—एक काला और दूसरा लाल। हमें भीलनी की बुद्धि पर तरस आता है कि उसने बहुमूल्य गजमुक्ता को अवहेलना की और गुंजाफल को गले लगाया। मगर इसमे उस गरीबिनी का क्या दोप है ? वह मुक्ता का मोल नहीं जानती। उसकी क्षुद्र बुद्धि में गुंजा ही बहुमूल्य है ?

जैसे भीलनी गजमुक्ता और गुंजा की वास्तविक परीक्षा नहीं कर सकती, उसी प्रकार सर्वसाधारण जनता सच्चे देव, गुरु और धर्म की परीक्षा नही कर सकती। उसके पास वह कसौटी ही नहीं होती, जिस पर देव गुरु-धर्म की परीक्षा की जाती है। ऐसी स्थिति मे अगर जनता भीलनी का अनुकरण करती है तो वह क्षम्य है। मगर जिन लोगो के पास यह कसौटी है, जो सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की परीक्षा कर सकते हैं, वे जब

सच्ची राह से भटक जाते है तो आश्चर्य होता है! अपने आपको जौहरी मानने वाला अगर मुक्ता त्याग कर गुंजा ग्रहण करले तो वह क्षम्य नही हो सकता।

अन्त करण की चंचलता या आत्मिक दौर्बल्य के कारण कभी-कभी मनुष्य विचलित हो जाता है। मगर स्मरण रखना चाहिए कि जब तक चित्त मे चंचलता है, तब तक सम्यक्त्व की प्रगाढ़ता प्राप्त नही होती। सम्यक्त्व में प्रगाढ़ता आये विना वास्तविक सुख प्राप्त नही हो सकता। अतएव दृढ़ता धारण करो। अपनी श्रद्धा और रुचि मे एकाग्रता लाने का प्रयत्न करो। ढुलमुल नीति जैसे व्यावहारिक सफलता में बाधक होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक या पारलौकिक सफलता मे भी वाधक होती है।

हाँ तो जिस उर्दू शेर की प्रशंसा में इतना लम्बा व्याख्यान हो गया, उसे आपको सुना दूँ और उसका अर्थ भी कर दूँ। शायर कहता है—

किस कदर सीमाब है, वेताब मरने के लिए।
शौक़ है अक्सीर कहलाऊँगा मर जाने के बाद॥

उर्दू मे सीमाव पारे को कहते हैं। पारा वैद्य से कहता है—तुम सोने और चाँदी को क्यों मारते हो? अर्थात् इनकी भस्म बना कर लोगों को क्यो देते हो? सोना-चाँदी तो जेवर वन कर लोगों की, विशेप तौर पर स्त्रियों की शोभा बढ़ाते हैं। इसलिए इन्हे रहने दो, इन्हे भस्म मत करो। मुझे गालो और मेरी भस्म वनाओ। मेरी भस्म लोगो को दो।

वैद्य पारे से पूछता है—तू क्यों भस्म होना चाहता है? तू क्यो मौत माँगता है।

पारा उत्तर देता है :—

जब से सुना है कि मरने का नाम जिन्दगी है।
सर पै कफ़न बाँधे, कातिल को ढूढते हैं॥

अपने धर्म, देश, जाति और समाज के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले वीर पुरुष अमर हो जाते हैं। वे मर कर भी अमर बन जाते हैं। ऐसा मैंने सुना है। इसलिए मेरे मन मे भी दूसरो की भलाई के लिए मर मिटने की साध जागी है।

भाइयो! आप जानते हैं कि पारा बोल नही सकता। फिर भी कवि ने उसके मुख से एक अनूठी उक्ति कहलाई है। आप उस उक्ति के भाव पर ध्यान दीजिए। पारा तो रूपक-मात्र है। इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य अपने जीवन को परहित के लिए, परोपकार के लिए समझते हैं और अपनी समझ के अनुसार ही आचरण करते हैं, तथा आवश्यकता होने पर धर्म, देश, समाज या जाति की भलाई के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग कर देते हैं, उनका जीवन भी धन्य है और मरण भी धन्य हो जाता है। वह मर कर अमर हो जाता है, अर्थात् उसकी कीर्ति इस जगत् में स्थायी हो जाती है। परलोक में भी वह अमर अर्थात् देव होता है। यहाँ याद रखना चाहिए कि यद्यपि देवों को भी आयु पूर्ण होने पर शरीर त्यागना पड़ता है, तथापि वे अकाल मृत्यु से नही मरते, इसी कारण उन्हें 'अमर' कहा जाता है।

जब तक पारा पारे के रूप में रहता है, तब तक वह जहर का काम करता है। कोई पारा खा ले तो उसकी मृत्यु हो सकती है। परन्तु जब उसकी भस्म बन जाती है, तो उसकी थोड़ी-सी मात्रा भी महाशक्ति प्रदान करने वाली बन जाती है।

वास्तव में पारे की तरह मर कर भी जो दूसरों का भला करते हैं, वे अमर है।

जैनशास्त्र के अनुसार शील की बड़ी महिमा है। शास्त्र में कहा है कि यदि शील की रक्षा न हो सके तो भृगुपात करके मर जाना चाहिए, परन्तु शील खण्डित नही करना चाहिए। महासती राजीमती ने भी रथनेमि से यही बात कही थी—'सेय ते मरणं भवे।' इस असंयममय, वासना से कलंकित जीवन की अपेक्षा तो तुम्हारा मर जाना ही बेहतर है।

भाइयो! धर्म के लिए मर मिटने की शास्त्राज्ञा है। शास्त्रों मे हमे ऐसे अनेकानेक धर्मवीर पुरुषों के ज्वलत उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने धर्म की रक्षा करने के लिए शान्त भाव से, सम-भाव में विचरण करते हुए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। ऐसे महान् व्यक्तियों मे प्राचीनकालीन सन्त भी हैं, मध्यकालीन सन्त भी हैं और अनेक वीरांगनाएँ भी हैं। गजसुकुमार मुनि ने धधकते अंगारों को अपने मस्तक पर सहन किया। तीन खँड के नाथ कृष्ण वासुदेव के अत्यन्त स्नेहपात्र सुकुमार शरीर गजसुकुमार ने दुस्सह वेदना सहन कर ली, पर मुख से आह न निकाली। उन्हे धर्म की अपेक्षा जीवन अधिक प्यारा होता तो सोमिल ब्राह्मण की क्या मजाल थी कि वह ऐसा दुस्साहस करता! मगर गजसुकुमार सच्चे सुख के रहस्य को जानते थे। जिसे साधारण लोग दुःख समझते हैं, उसमें मुनिवर गजसुकुमार को अनन्त सुख के बीज दिखाई दे रहे थे। साधारण और असाधारण पुरुषों की दृष्टि मे बड़ा अन्तर होता है।

कितने उदाहरण आपके सामने रक्खूँ? स्कंधक मुनि की याद दिलाऊँ या मेतार्य का उदाहरण आपके सामने रक्खूँ?

स्कन्धक मुनि ने अपने शरीर की चमड़ी उतरवा ली और मेतार्य मुनि ने अपने शरीर पर चमड़ा मढ़वा लिया! पाँच सौ मुनि घानी मे पिल गये।

और उस वीरांगना महारानी कलावती का नाम किस प्रकार भुलाया जा सकता है, जो वैभव की गोदी मे पली थी, वैभव के बीच खेली थी, स्वर्णमय सिंहासन से जिसने नीचे पैर नही रक्खा था, फिर भी जब शील पर संकट आता देखा तो अपने ही हाथ से अपनी जीभ खीच कर बाहर निकाल ली और जीवन का अन्त कर दिया।

धर्म पर प्राण निछावर कर देने वाले वीर पुरुषो और वीरांगनाओं के पुण्य-चरित्र हमारे सामने उपस्थित हैं। जरा विचार कीजिए कि यह चरित्र हमे क्या शिक्षा देते है? यही न, कि धर्म के समक्ष इस नाशवान् देह का कुछ भी मूल्य नही है। शरीर धर्मसाधना का साधन है और जब तक उससे यह प्रयोजन पूरा होता है, तब तक हठात् उसे नष्ट करने की आवश्यकता नही है, मगर जब शरीर और धर्म मे परस्पर विरोध उपस्थित हो और किसी एक का त्याग अनिवार्य हो जाय, तब विवेकी और सुख के सच्चे स्वरूप को समझने वाला पुरुष धर्म की ही रक्षा करना चाहेगा। वह नाशशील शरीर की रक्षा के लिए धर्म का विनाश कदापि सहन नही करेगा। ऐसा करके वह अमरत्व की ओर बढ़ेगा।

जैसे शीशी काँच की, तैसी नर की देह।
टपक लगे फूट जायेगी प्रभु भज ल्हावा लेह॥

भाइयो आयु कितनी ही लम्बी क्यों न हो, एक दिन पूरी हो ही जाती है। जब आयु पूरी हो जाती है तो शरीर त्याग

कर विदा हो जाता पड़ता है। तेतीस सागरोपम जैसी दीर्घतम आयु वालों को भी आखिर मरना पडता है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। मरने में कोई आश्चर्य नही है। आश्चर्य है तो यही कि मौत के सैकडों कारण विद्यमान होने पर भी जीव इतना कैसे जीवित रह लेता है! इस प्रकार मृत्यु अनिवार्य और अवश्यभावी है। ऐसी स्थिति मे जो लोग जिंदगी के लिए धर्म की अपेक्षा कर देते हैं, धर्म को त्याग देते है, उन्हे गजमुक्ता त्याग कर गुंजाफल ग्रहण करने वाली भीलनी से बढ़ कर कैसे माना जा सकता है?

जो लोग वासनाओं की क्षणिक पूर्ति के प्रलोभन मे पड़कर धर्म का परित्याग कर देते है, वे एक प्रकार से अपने सुख को तिलांजलि दे देते है। भले ही वे सुख के अभिलाषी हो और सुख के लिए ही प्रयत्नशील हों, तथापि वे सुख की राह पर न जा कर उससे विपरीत दिशा मे जाते है। यही कारण है कि वास्तविक सुख से उन्हे वंचित रहना पड़ता है। सुख का मूल धर्म है। उसका परित्याग कर देने वाले सुख के ही मूल को उखाड़ कर फेंकने वाले है। वे कैसे सुख पा सकते है?

लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी सुख की प्राप्ति न होने का असली हेतु यही है कि लोग कार्य-कारणभाव को नहीं समझते। सुख के अभिलाषी को सर्व प्रथम सुख के कारणों को समझना चाहिए और फिर उसी प्रकार उन कारणों का प्रयोग करना चाहिए जैसे कुम्हार घड़े के कारणों का प्रयोग करता है और जुलाहा कपडा के कारणो का। जैसे वस्त्र के कारणो से घट की उत्पत्ति होना असभव है और घट के कारणों से वस्त्र की उत्पत्ति नही हो सकती; उसी प्रकार दुःख के कारण जुटाने

वाले सुख प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव हे सुखाभिलाषियो! अगर सचमुच ही आप सुख पाना चाहते हैं तो सुख के कारणों को समझ लीजिए। इसीलिए आज कार्य-कारण भाव की चर्चा की गई है।

सुख कार्य है तो उसका वास्तविक कारण क्या है, इस प्रश्न पर कल चर्चा करने का विचार है। अगर आपने इस चर्चा को ध्यानपूर्वक सुना और लाभ उठाया तो आपका परम कल्याण होगा।

राजकोट
२१-७-५४

: ४ :

सुख के पर्यायान्तर

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

धर्मप्रेमी भव्य आत्माओ !

कल आपके समक्ष सुख के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किए गए थे। विश्व के समस्त प्राणी, चाहे वे मनुष्य हो, देव हों, नारक हों अथवा तिर्यंच हो, सब सुख के लिए ही सतत प्रयास कर रहे है। मगर ऐसा क्यों है? जब इस 'क्यो' का उत्तर मिल जायगा, तभी यह विषय समाप्त होगा।

सुख शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द है। आनन्द, आराम शान्ति, समाधि आदि अनेक शब्दो द्वारा सुख के भाव को व्यक्त किया जा सकता है। इन शब्दों के लिखने और बोलने मे अन्तर है, किन्तु भाव सबका एक ही है। रोटी कहो अथवा चपाती, बात एक ही है। विभिन्न देशो और कालों मे एक ही भाव को प्रगट करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्दो का आश्रय लिया जाता है। कोई किसी शब्द से तो कोई किसी शब्द से भाव को ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि संसार मे एकार्थवाचक अनेक शब्द होते है। अलग अलग शब्दो का प्रयोग करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उस शब्द का वाच्य श्रोता की दृष्टि में निखर जाता है। कभी-कभी

व्यापक भाव को समझाने के लिए भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है। प्रश्न व्याकरणसूत्र में हिंसा और अहिंसा के जो बहु-सख्यक नाम दिए गए हैं, उसका प्रयोजन हिंसा-अहिंसा के व्यापक भाव का स्पष्टीकरण करना है। शब्द की शक्ति जब परिमित होती है और वह भाव को पूर्ण रूप से प्रकट करने में असमर्थ होता है, तब अनेक शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। इस प्रकार श्रोताओं की सुविधा और भाव की व्यापकता का स्पष्टीकरण, इन दो प्रयोजनों से पर्यायवाचक शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं।

शब्द और अर्थ में परस्पर क्या सम्बन्ध है? शब्द, अर्थ का वाचक कैसे बनता है? अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही बोध क्यों होता है? पर्यायवाचक कहे जाने वाले शब्दों के अर्थ में भी सूक्ष्म भेद होता है या एकान्त अभेद ही होता है? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ उपस्थित किए जा सकते है और उन पर लम्बी चर्चा भी की जा सकती है। पर मैं तो सुख के सम्बन्ध में विवेचन करना चाहता हूँ। इन प्रश्नों पर चर्चा छेड़ दी जाय तो मूल विषय जहाँ का तहाँ रह जायगा।

मैं आप लोगों के सामने प्राकृतभाषा के पाठों का ही उच्चारण करूँ और उसी भाव को व्यक्त करने वाले हिन्दी, गुजराती या उर्दू के शब्द न बोलूँ तो आप मेरे भावों को नहीं समझ सकेंगे। अतएव एक ही बात को कहने वाले अनेक शब्दों का प्रयोग करने से प्रत्येक व्यक्ति आशय को अच्छी तरह समझ लेता है। इसी उद्देश्य से मैं उर्दू शब्द का प्रयोग करके हिन्दी और गुजराती भाषा के भी शब्दों का

प्रयोग कर दिया करता हूँ। हो सकता है कि कुछ विशेषज्ञो को ऐसा करना पिष्टपेषण-सा जान पड़े, किन्तु मुझे सभी प्रकार के श्रोताओ का ख्याल रखना पड़ता है, रखना भी चाहिए। उपदेशक को श्रोताओ की योग्यता एवं पात्रता का विचार करके ही विषय प्रतिपादन और भाषा प्रयोग करना चाहिए। विभिन्न भाषाओं के शब्दो से विभिन्न प्रान्तवर्ती श्रोताओं को भाव अवगत करने मे बड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि कही-कही शास्त्रो मे भी इस प्रकार के एकार्थक अनेक पदो का प्रयोग देखा जाता है।

वक्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह भाषा का विस्तृत और विशाल ज्ञान प्राप्त करे। उसे एक ही वस्तु के जुदा-जुदा देशो मे प्रसिद्ध नामो का ज्ञान होना चाहिए। भाषा-ज्ञान के अभाव से वक्ता मूक है। उसके मानस मे कितने ही उच्च भाव क्यों न भरे हो, यदि उनको जनता के सामने सरल और सुबोध भाषा मे प्रकट करने का सामर्थ्य नही है, तो उनसे दूसरो को क्या लाभ हो सकता है· यद्यपि यह सत्य है कि सम्पूर्ण भाव भाषा के द्वारा व्यक्त नही किए जा सकते, तथापि यह भी असदिग्ध है कि मनुष्य के पास, अपने भावो को अभि-व्यक्ति करने का भाषा से उत्तम अन्य कोई साधन नही है। भाषा का ही यह माहात्म्य है कि सर्वज्ञों के भाव यत्किंचित् रूप में भी हमारे लिए पथप्रदर्शक बने हुए हैं। ज्ञानी पुरुषों ने अपने आत्मिक ज्ञान के द्वारा ज्ञान तत्त्वों को भाषा के माध्यम से अगर प्रकाशित न किया होता तो इस विशाल साहित्यराशि का निर्माण भी न हुआ होता और उस हालत मे हम लोगों की क्या स्थिति होती! आज का मनुष्य समाज घोर अंधकार मे भटकता हुआ भी मार्ग न पाता। इस दृष्टि से विचार करने

पर भाषा के महत्त्व को सहज ही समझा जा सकता है।

हाँ, तो जिस वक्ता को भाषा का समीचीन ज्ञान है और जो विभिन्न देशीय या प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञाता होता है, वही उपदेशक सफलता के साथ अपने श्रोताओं को मानसिक सन्तोष प्रदान करने मे समर्थ होता है। हाँ, पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते समय वक्ता को थोड़ी सावधानी अवश्य बरतनी पड़ती हैं। सावधानी यह कि शब्दान्तर करते समय अर्थान्तर न हो जाय। शब्दान्तर की तरह यदि अर्थान्तर कर दिया जाय तब गड़बड़ हो जाती है।

जिस शब्द का जो अर्थ है, वही बतलाना उस शब्द का वास्तविक अथ बतलाना कहा जाता है। अगर तोड़-मरोड कर दूसरा अर्थ बना दिया जाय तो वह अर्थान्तर कहलाता है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। जिस देश, जिस काल और जिस परिस्थिति के लिए जो अर्थ संगत हो, उस समय वही अर्थ करना चाहिए।

खेद का विषय है कि भाषा जैसे ज्ञान को सर्वोत्तम वाहन का भी लोगों ने पक्षपात, सकीर्ण दृष्टि, मतान्धता आदि कारणो से दुरुपयोग किया है। ऐसा करने से कल्याणकारी शास्त्र भी शस्त्र का रूप धारण कर लेता है। शास्त्र का काम कुमार्ग से बचाकर, सन्मार्ग मे स्थित करके मनुष्य की रक्षा करना है। यदि उसी शास्त्र के शब्दो का अर्थ विपरीत कर लिया जाय तो वह शास्त्र सहार का कार्य कर सकता है। संरक्षण और सहार मे बहुत बड़ा अन्तर है। आकाश और पाताल जितना अतर है। शास्त्र उद्धारक है, ससार-सागर मे गोते खाने वाले जीवो को पार लगाने वाला है। शस्त्र घातक है और

डुबाने वाला है। एक मे सुख है, दूसरे मे दु:ख है। शस्त्र जिस पर चलाया जाता है, उसका घात करता है। शास्त्र सुनने वाले और सुनाने वाले—दोनो का ही कल्याण करता है।

शास्त्र मे शास्त्रकारों ने, जिन भावो को लक्ष्य मे रख कर जिन शब्दो का प्रयोग किया है, उन शब्दो से वही अर्थ ग्रहण करना और वही अर्थ दूसरो के सामने प्रकट करना शास्त्र-सम्मत अर्थ कहा जाता है। परन्तु अपनी मिथ्याबुद्धि, दुर्बुद्धि या दुराग्रहपूर्ण बुद्धि के कारण अथवा क्रोध, मान माया, लोभ के कारण शास्त्र के शब्दो का विपरीत अर्थ करना अर्थान्तर कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि कैसे जाना जाय कि किस स्थल पर शास्त्रकार का किस शब्द से क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर यही है कि अन्तरङ्ग मे यदि कषाय नही है, बुद्धि शुद्ध है, सरल है और निखालिस सत्य को ही सर्वोपरि मानकर उसी को ग्रहण करने की उत्कट भावना है तो शास्त्र के सही अर्थ को समझने मे कुछ भी कठिनाई नही हो सकती। निर्मल हृदय स्वभावत सत्य ही की ओर आकर्षित होता है, परन्तु पक्षपात, कुसंस्कार, साम्प्रदायिकता व्यामोह, पंथ का पक्षपात आदि ऐसी बुराइयाँ है जो मनुष्य को सत्य से वंचित करके मिथ्या की ओर घसीट ले जाती है।

इस ससार मे जितने भी मत, सम्प्रदाय, पन्थ, बाड़े या दर्शन परम्पराएँ है, उन सब के मूल का अन्वेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि उनमे से अधिकांश का कारण अर्थान्तर है। औरों की बात जाने दीजिए और केवल जैन-धर्म के अन्तर्गत सम्प्रदायो पर ही दृष्टि डालिए। ज्ञात होगा कि जैन समाज में जो फिर्के है, वे शास्त्रों के अर्थ

मे अन्तर कर देने के कारण ही हैं। उदाहरणार्थ शास्त्र मे उल्लेख है कि—'साधु असयमी जीवन की इच्छा न करे।' इसका सीधा-सादा और बुद्धिगम्य अर्थ यही है कि साधु गृहस्थों के समान सयमरहित—विलासमय-जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा न करे। उसे एकान्त सयममय जीवन ही बिताना चाहिए। उक्त वाक्य मे 'असयमी' शब्द जीवन का विशेषण है, अर्थात् वह जीवन, तो असयमी हो, साधु न चाहे।

प्रत्येक व्यक्ति, जो सत्य का प्रेमी है, विवेकवान् है, जिसका चित्त कषाय से कलुषित नहीं है, यही अर्थ समझेगा। किन्तु जिनके मन मे अपने पथ का दुराग्रह या हठाग्रह है, वे इस सीधे-सादे शब्द का भी अर्थ अन्यथा करते हैं। उनका कहना है कि असंयमी के जीवन की वाछा नही करनी चाहिए, अर्थात् जो प्राणी असंयमी हैं, साधु नही हैं, उनके जीवन की इच्छा करना पाप है उन्हे न बचाना चाहिए न उनकी रक्षा करनी चाहिए। साधु के सिवाय जगत् के सब प्राणी असयमी है, अतएव उनका रक्षण करना, उन्हे किसी प्रकार का दान देना या उनकी सहायता करना एकान्त पाप है। . . .

इस प्रकार यह-परलोक से विरुद्ध प्ररूपणा करने से एक नवीन मत स्थापित हो गया है। यह अर्थान्तर करने का प्रताप है!

यह अर्थ-परिवर्त्तन ऊपरी दृष्टि से साधारण-सा प्रतीत होता है। 'असयमी जीवन' और 'असंयमी के जीवन' में शाब्दिक अन्तर थोड़ा-सा ही है। बीच मे एक 'का' जोड़ दिया गया है। कर्मधारय समास की जगह तत्पुरुष समास मान लिया गया है। मगर इतने-से परिवर्त्तन से भारी अनर्थ हो गया है। एक नया पंथ खड़ा हो गया है, जिसके कारण सब जैनो को शर्मिन्दा होना पड़ता है। जैनेतर लोग आक्षेप करते हैं कि जैन मत में

जीवरक्षा करने में भी पाप माना जाता है। गनीमत यही है कि इस प्रकार का आक्षेप करने वालों की संख्या अधिक नहीं है, क्योंकि जैनधर्म जीव-दया के लिए प्रसिद्ध है। फिर भी कुछ लोग तो भ्रम में पड़ ही जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि विचारशील पुरुषों को शुद्ध बुद्धि से, शुचि विचार से, सत्य के समक्ष नतमस्तक होकर शास्त्र के शब्दों का अर्थ करना चाहिए, जिससे आशय में विपरीतता या विरूपता न आवे। इसी प्रकार पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते समय भी भाव का पूर्ण विचार रखना चाहिए।

प्रारम्भ में सुख के जो समानार्थक शब्द बतलाये गये है, उनमें एक शब्द समाधि भी है। समाधि शब्द का अर्थ भी सुख है, क्योंकि समाधि सुख का ही एक रूप है। आधि, व्याधि और उपाधि का जो विरोधी अर्थ है, उसी को समाधि कहते हैं। आधि, व्याधि और उपाधि में दुःख है, समाधि में सुख है। समाधि एक प्रकार का आत्मरमण है और आत्मरमण से बढ़ कर इस समग्र संसार में कोई सुख नहीं हो सकता। साधारण प्राणी विषयरमण में सुख समझते हैं, पर उन्हें आत्मरमण के सुख का पता ही नहीं होता। जिन्होंने एक बार भी आत्मरमण या समाधि के सच्चे सुख का आस्वादन कर लिया, उन्हें विषय-सुख अत्यन्त नीरस और निस्सार प्रतीत होने लगता है। वे उसे तुच्छ और त्याज्य मानने लगते हैं।

सच पूछा जाय तो समाधि के अभाव में सुख की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ आधि, व्याधि और उपाधि का प्राबल्य हो, चित्त में घोर अशान्ति विद्यमान हो और बेचैनी अपनी चरम सीमा पर हो, वहाँ क्षण भर के लिए भी

सुख की सम्भावना नहीं की जा सकती। असली सुख चित्त की शान्ति और निराकुलता में है। इसके बिना जगत् का समग्र वैभव इकट्ठा होकर भी किसी को सुखी नहीं बना सकता।

शास्त्र में समाधि के चार भेद बतलाये गये हैं—(१) विनय-समाधि (२) श्रुतसमाधि (३) तप-समाधि और (४) आचार-समाधि।

(१) विनयसमाधि

जो अपने से बड़े हैं, अधिक गुणवान् हैं, उनका विनय करना, उनका आदर सत्कार करना, चित्त में अहंकार का भाव उदित न होने देना, वृत्ति में विनम्रता रखना, ज्ञान, ऐश्वर्य, तप, बल आदि की उत्कृष्ट मात्रा प्राप्त होने पर भी उनका अभिमान न करना और साथ ही अपनी त्रुटियों, अपनी दुर्बलताओं एवं अयोग्यताओं को समझना और प्रामाणिकता के साथ उन्हें दूर करने का प्रयास करते रहना, यह सब विनयसमाधि के अन्तर्गत है।

जैनधर्म विनयमूलक है और गुणपूजक है। वह वेषपूजा या आडम्बर आदि की पूजा का विधान नहीं करता। वह यथारात्निक विनय का विधान करता है, अर्थात् रत्नत्रय में—ज्ञान दर्शन और चारित्र में जो अधिक हैं, उनका विनय करने का उपदेश करता है। साठ वर्ष का वृद्ध भी यदि दीक्षा अंगीकार करता है तो उसे अपने से पूर्वदीक्षित नौ वर्ष के बालक मुनि को वन्दना करनी पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि महत्त्व वेष और उम्र का नहीं, गुण का है। हाँ, व्यवहार पक्ष में उम्र का भी महत्त्व है। अतएव जो उम्र में बड़े हों उनका विनय करना चाहिए।

विनय लौकिक एवं लोकोत्तर सुखों का मूल्य है। किसी मनुष्य मे यदि सहस्रों सद्गुण विद्यमान हैं, किन्तु विनय का अभाव है, तो उसके समस्त गुण शोभाविहीन हो जाते हैं। वास्तव में विनय के बिना कोई भी सद्गुण शोभा नही पाता। विनय के सद्भाव से मनुष्य की गुणावली खिल उठती है। जो मनुष्य जितना अधिक विनयवान् है, वह उतना ही अधिक उच्चकोटि का गिना जाता है। विनय मे अद्भुत आकर्षण शक्ति होती है। जैसे चुम्बक कठोर लोहे को सहज ही आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार विनयविभूषित व्यक्ति वज्र-हृदय को भी अनायास ही अपनी ओर खीच लेता है। लोग विनीत पुरुष के गुणो पर मुग्ध हो जाते हैं और मुक्त कंठ से उसकी प्रशसा करने लगते हैं। एक संस्कृतकवि ने ठीक ही कहा है:—

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो,
वचोभूषा सत्य वरविभवभूषा वितरणम् ।
मत भूषा मैत्री मधुसमयभूषा मनसिज',
सदो भूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः ॥

आकाश का आभूषण सूर्य है। असख्य तारागण से भी आकाश उतना सुशोभित नही होता, जितना एक सूर्य से। इसी प्रकार कमल-वन मधुकरो की मधुर गुंजारव से शोभायमान होता है। वाणी सत्य की महिमा से मडित होती है। सम्पत्ति दान से शोभा पाती है। मन का महत्त्व मैत्री भाव से बढ़ता है, सूक्तियो से सभा सुशोभित होती है और विनय मनुष्य के समस्त गुणों का आभूषण है।

वास्तव में विनय सब गुणों का सिरमौर है। वह इस लोक मे भी सुख-शान्ति प्रदान करता है और परलोक में भी। ऐसा

होने पर भी आज देश मे विनय का लोप होता जा रहा है। आज की पश्चिमी पद्धति की शिक्षा शैली भी विनय का विकास करने के बदले ह्रास का कारण बन रही है। आज के परिवारों मे पहले जैसा मधुर और वत्सलतापूर्ण हार्दिक संबध आज कहाँ दृष्टिगोचर होता है ? जिस परिवार मे विनय का साम्राज्य होता है। छोटे अपने से बड़ो के प्रति विनम्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं और बड़े, छोटो पर हार्दिक शुभाशीर्वादो की वर्षा करते हैं, वह परिवार सदैव परम प्रमोदमय बना रहता है, वह इस धरा-धाम पर स्वर्ग का आदर्श उपस्थित करता है। उस परिवार में के सभी सदस्य आनन्द-विभोर होकर सुख-शान्ति में मग्न रहते हैं। वहाँ घृणा, द्वेष, तिरस्कार, कलह आदि की दाल नही गलती। इसके विपरीत जहाँ विनय का अभाव है, वह परिवार कभी सुख शान्ति नही पाता। वहाँ देवरानी-जिठानी सासू-बहू, भाई-भाई आदि मे रगड़े-झगड़े देखे जाते हैं।

अगर एक देश दूसरे देश का ध्यान रक्खे, उसके विकास मे सहायक हो, एक समाज दूसरे समाज का आदर करे, और एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णु बना रहे तो क्लेश, कलह, युद्ध और झगड़ों का मूल ही नष्ट हो जाय। मगर आज तो यह सब दूर की बात मालूम होती है।

गुरु के प्रति विनयभाव न होने से ही शिष्य उच्छृंखल बन जाते हैं। आज के युग की शिक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी विचित्र-सी बन गई है कि शिष्य और शिक्षक के बीच गुरु-शिष्य संबंध सस्थापित ही नही हो पाता है। यही कारण है कि छात्रो में अपने अध्यापको के प्रति विनय का बहुत कम अंश पाया जाता है। फलस्वरूप उनमें प्रेम का वह माधुर्य नही दिखाई देता जो भारत की प्राचीन आख्यायिकाओ मे

उपलब्ध होता है। इसी कारण आज सर्वत्र असन्तोष, अशान्ति और अस्थिरता दृष्टिगोचर होती है। सच तो यह है कि विनय का अभाव ही समस्त दु:खों की जड़ है।

जैन-शास्त्रों में विनय पर बहुत बल दिया गया है। वहाँ बतलाया गया है —

विणओ जिणसासणमूलं, विणओ निव्वाणसाहगो।
विणओ विप्पमुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो ?"

अर्थ—विनय जिनशासन की जड़ है। विनय के आधार पर ही जैनधर्म की समग्र आचरणप्रणालिका टिकी हुई है। विनय ही निर्वाण का साधक है। जिस पुरुष में विनय नहीं है, उसमें धर्म और तप कैसे टिक सकते है? कहावत है— 'मूलाभावे कुत. शाखा ?' अर्थात् जड़ के बिना शाखा नहीं रह सकती। इसी प्रकार विनय के बिना कोई धर्म-क्रिया नही रह सकती।

भाइयो! विनय एक महान गुण है जो व्यक्ति में कोमलता, मृदुता, नम्रता आदि अनेक विशिष्ट भावों को उत्पन्न करता है। विनयवान् व्यक्ति मे सभी गुण स्वत प्रकट होने लगते हैं।

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए। विनयी और विनय-वादी में बड़ा अन्तर है। विनयवाद एक प्राचीन साधना-पद्धति है, जिसमें सबको समान माना जाता है। गदहा भाई! राम राम! और कुत्ता भाई! राम राम! यह विनयवादियों का तरीका है। इस प्रकार का विनयवाद मिथ्यात्व मे गर्भित है; क्योकि इसमें विवेक का अभाव है। विनय के साथ विवेक की आवश्यकता है। सच्ची दृष्टि होने पर ही विनय कल्याणकारी है। विनय इतना सस्ता नहीं कि हर जगह उसका

उपयोग किया जाय और समझ बूझ को कोई स्थान न दिया जाय। वास्तव मे प्रत्येक गुण तभी तक गुण रहता है जब उसके पीछे सजीव विवेक होता है। विवेकहीनता मे गुण भी अवगुण बन जाता है।

कोई भी वस्तु अपने उचित एवं योग्य स्थान पर ही शोभा देती है। स्थानभ्रष्ट होने पर उसका मूल्य और महत्व नष्ट हो जाता है। पाजामे की शोभा टांगो मे है, गले में लपेट लेने पर नहीं। टोपी को दस्ताने बना लेने वाला बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। स्थानान्तर करने पर उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

विनय के लिए एक मर्यादा है। अपनी अपेक्षा विशिष्ट गुणवान् चेतन पदार्थों का ही विनय किया जाता है। न अचेतन पदार्थों का और न गुणविहीन सचेतनो का विनय किया जाता है। जड़ पदार्थो का संरक्षण किया जा सकता है, विनय नहीं। विनय आत्मा का गुण है, धर्म है। आत्मा विशिष्ट गुणी जनों के सामने ही विनम्र हो सकता है। किन्तु जब जड़ और चेतन, सगुण और निर्गुण आदि का कोई भेद न करते हुए सभी को समान भाव से माथा टेक दिया जाता है तो वह विनय गुण न रह कर अवगुण हो जाता है।

विनय की मर्यादा को न समझने के कारण कभी-कभी बड़ा बखेड़ा उठ खड़ा होता है।

मेवाड़ की बात है। श्री वर्धमान श्रमणसङ्घ के उपाचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज एक गाँव से विहार करके दूसरे गाँव पहुँचे। उपाचार्य श्री हमारे श्रमणसङ्घ के सचालक है—कार्य-वाहक हैं। श्रमणसङ्घ के आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

हैं.' जो एक महान् विभूति, उच्च कोटि के विद्वान् और सङ्घ के आभूषण हैं। आपने उपाचार्यश्री को ही अपना लगभग समस्त कार्य-भार सौंप रक्खा है। उपाचार्यश्री उस गाँव मे पधार कर उस स्थान पर ठहरे जहाँ परम्परा से हमारे समाज के साधु ठहरा करते थे। वह स्थान जैनदेवस्थान है, जिस पर परम्परा से स्थानक-वासी जैनों का कब्जा है।

उपाचार्यश्री जी के देवस्थान मे ठहरने की बात सुन कर एक समाज के सैकड़ो व्यक्ति अपने साथ पुलिस लेकर दूसरे निकटवर्ती स्थान से वहाँ आ पहुँचे। उस ग्राम मे सभी जैन स्थानक-वासी थे। मन्दिर की सारी व्यवस्था और अधिकार भी स्थानक-वासी जैनों के हाथ मे थे। मगर एक बखेड़ा खड़ा करना था। पडौस के शहर वालो ने सोचा कि स्थानक-वासी धर्म की इतनी जाहो-जलाली हो गई और हम यो ही रह गए। किसी तरह उपाचार्य श्री को नीचा दिखाना चाहिए। उन्होने सोचा—भारतवर्ष में स्थानक-वासी साधु-साध्वी, जहाँ अन्य स्थान नही मिलता, जैन-मन्दिरों मे ठहरा करते है, यह ठीक नही है। मन्दिर मे ठहरने से हमारे भगवान् की आसातना होती है। स्थानक-वासी समाज के मुख्य उपाचार्य श्री को यदि हम मन्दिर मे ठहरने से रोक सकेंगे तो सदा के लिए, सारे भारतवर्ष में, जैन-मन्दिरो मे ठहरने पर रुकावट लग जाएगी। इस प्रकार एक पंथ दो काज हो जाएँगे।

यह मँसूबा बाँध कर सैकड़ो व्यक्ति पुलिस के साथ उपाचार्य श्री के पास आये। कहने लगे—'आप मन्दिर छोड़कर कही अन्यत्र जाकर ठहरिए, यहाँ नही।' तीन व्यक्तियो ने एक महान् उपाचार्य के प्रति न बोलने योग्य शब्दो का भी प्रयोग किया।

उपाचार्य श्री शान्त, गभीर और अनुभवी सन्त है। वे दूसरो को गर्म देखकर गर्म होने वाले न थे। उन्होने आगन्तुको से शान्तिपूर्वक पूछा—भाइयो, क्या कारण है कि आप हमें यहाँ से हट जाने के लिए कहते हो ? हम अपनी आचार-मर्यादा के अनुसार यहाँ के श्रावको की आज्ञा प्राप्त करके यहाँ ठहरे हैं। आज्ञा देने वाले श्रावक जब तक हमे स्थान त्याग देने के लिए न कहे, हम कैसे यह स्थान त्याग दे ? हाँ, जब हमे विहार करना होगा तब चले जाएँगे।

आगन्तुको मे जो समझदार गिने जाते थे, उन्होंने कहा—महाराज, आप यहाँ ठहरते हैं और भोजन आदि करते हैं, जिससे हमारे भगवान् की आसातना होती है।

आचार्य श्री ने कहा—जब इस भारतवर्षमे साक्षात् भगवान् महावीर स्वामी विचरण किया करते थे, तब साधु उनके चरणो मे बैठकर आहार-पानी का सेवन करते थे या अन्यत्र कहीं जाकर ? जब साक्षात् भगवान् के पास बैठकर आहार-पानी करने से उनकी आसातना नही होती थी तो पचमहाव्रतधारियों के द्वारा उनकी मूर्त्ति की आसातना कैसे हो सकती है ?

आगन्तुको की मशा झगड़ा करने की थी। वे इसी इरादे से आये थे कि किसी भी तरह इन्हे मन्दिर से बाहर कर दिया जाय। उपाचार्य श्री के अकाट्य तर्क का उत्तर उन्हे नहीं सूझा, परन्तु वे हो-हल्ला मचाकर जबरन साधुओ को बाहर निकालने का प्रयत्न करने लगे। 'हमे यहाँ पूजा करनी है' कह कर अनेक लोग भीतर घुस गये। साधु दूर हट गये।

उस समय पास के शहर से उपाचार्य श्री की सेवा में अनेक श्रावक दर्शनार्थ आये हुए थे। उन्हे अपने पूजनीय उपाचार्य श्री

का यह अपमान सहन न हुआ। वे सब उत्तेजित होने लगे।

तेलरा धोबरा लडने लगीं, कौन दोनों में घाट।
वो उठावे मुद्गर तो वो उठावे लाठ॥

यह कहावत चरितार्थ होने वाली थी, परन्तु दीर्घदृष्टि और शान्तिप्रेमी उपाचार्य श्री ने अपने श्रावको को, जो विपक्षियो से अधिक सख्या मे मौजूद थे, शान्ति धारण करने का उपदेश दिया। उन श्रावको मे धर्म-गौरव का भाव था, जोश था और कुछ कर-गुजरने का हौसला था, परन्तु गुरु की आज्ञा के सामने वे लाचार थे।

उपाचार्य श्री विहार मे थे। उन्हें विहार करना ही था। विश्रान्ति के लिए वहाँ रुके थे। संध्या को विहार कर गये। परन्तु इस घटना ने स्थानकवासियो मे अपने कर्त्तव्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना जागृत कर दी। शहर मे आकर, रात्रि में सबने मिल कर उन तीन व्यक्तियो का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जिन्होने उपाचार्य श्री के प्रति अनुचित शब्दो का प्रयोग किया था। इसका बदला लेने के लिये सामने वाले दल ने समस्त स्थानकवासियों का सामाजिक बहिष्कार कर डाला! याद रहे, उस नगर मे स्थानकवासियों के आठ सौ घर है जबकि सामने वाले दल के अढ़ाई-तीन सौ घर! स्थानकवासियों ने बुद्धिमत्तापूर्ण कदम उठाया था। उन्होंने केवल तीन ही अपराधी व्यक्तियो का बहिष्कार किया था, जो निभ सकता था। मगर दूसरे दल ने बिना सोचे-समझे इतने बड़े समाज का बायकाट कर दिया। इसके फलस्वरूप बहू-बेटियों का आना-जाना रुक गया। शादी व्यवहार रुक गया। मकड़ी ने जाल बनाया, खुद ही फँस गई। अपनी करनी अपने को ही

खाने लगी। अन्त मे उस दल के एक गुरुजी ने बीच-बचाव करके आपस मे समझौता कराया।

मेरे कहने का आशय यह है कि विनय के सच्चे स्वरूप को समझने के लिए विवेक की आवश्यकता है। विवेक के अभाव मे अनेक अनर्थ पैदा हो जाते है। अतएव विनय को धारण करने के साथ विवेक को अपनाना भी आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है।

एक बात याद आ गई। एक साहूकार की पत्नी बड़ी सुशीला, विनीता, आज्ञाकारिणी, दयावती, श्रद्धाशीला और सर्वगुणसम्पन्ना थी। उसके पड़ौस में एक दूसरी स्त्री रहती थी। वह उससे एकदम विपरीत गुणों वाली थी। इस दुष्टा स्त्री का पति उसका सदा डँडो से पूजा किया करता था। कोई दिन शायद ही खाली जाता था जब देवी-जी की पूजा न उतरती हो। पड़ौसिन की पूजा देख कर वह सुशीला महिला सर्वत्र सावधान रहती थी कि ऐसा न हो कि कहीं मुझसे कोई चूक हो जाय और मेरी भी पूजा उतर जाय! वह गृहस्थी का प्रत्येक काय सावधानी के साथ करती और कभी कोई भूल नही होने देती थी।

सुशीला का पति भी पड़ौसी का यह व्यवहार नित्य देखा करता था। उसके मन मे आया—काश! मेरे लिए भी कभी अवसर आए कि मै भी अपनी पत्नी की पूजा करूँ। इसमे भी कुछ मजा आता होगा, तभी तो मेरा पड़ौसी प्रतिदिन पत्नी की पूजा उतारता है!

इस प्रकार सोच कर वह अपनी सदाचारिणी एवं आज्ञाकारिणी पत्नी की पूजा उतारने की ताक में रहने लगा। वह

इसी टोह मे रहता कि पत्नी कभी कोई भूल करे, मै उस भूल को पकडूँ और उसे डंडों से पीटूँ ! मगर स्त्री भी छक्के-पंजे सावधान रहती थी। वह कभी मार खाने का अवसर ही नही आने देती थी।

एक दिन पति और पत्नी दोनो अपने मकान की छत पर सोये हुए थे। तब पति ने पत्नी से पूछा—ऊपर आसमान मे यह तारो की पंक्ति-सड़क क्या है ? भोली पत्नीने जैसी लोक-कथा सुन रक्खी थी, तदनुसार ही उत्तर दे दिया—यह मुर्दों की सड़क है !

पत्नी का इतना कहना था कि पति ने उसे धड़ाधड़ डंडों से पीटना शुरू कर दिया। पत्नी ने दीनता और नम्रता प्रकट करते हुए पूछा—अजी, कोई कारण तो बतलाइए कि आप मुझे क्यो पीट रहे है ! पति ने उत्तर दिया—मुझे पता नही कोई मुर्दा ऊपर से मेरी खाट पर गिर पड़ा तो मेरी क्या हालत होगी ? ऐसी जगह मेरी खाट क्या बिछाई जहाँ ऊपर मुर्दे ही मुर्दे जाते हों !

भाइयो ! क्या कभी किसी पर आसमान से मुर्दे गिरे है ? परन्तु जिसे झगड़ा करना हो, उसे कोई न कोई बहाना तो चाहिए ही।

उपाचार्य श्री की महिमा सहन न हो सकने के कारण कुछ उत्पात खडा करना था, झगडा मचाना था। और कोई कारण न मिला तो 'सामने आहार करने से हमारे भगवान् (मूर्ति) की आसातना होती है' कारण खोज निकाला। यह विनय का वास्तविक अर्थ न समझने का फल है।

विनय सुख का कारण है, परन्तु विनय के स्वरूप को

समझना चाहिए। कई लोग पुस्तक को नमस्कार करते हैं। कई माला और अनुपूर्वी को मस्तक और आँखों पर लगाते है, मानो वह कोई सुरमा हो! ऐसा करने वाले लोग अपनी चैतन्य-सस्कृति को नही समझते। हम स्थानकवासी चैतन्य पूजक है, जड़ के पूजक नहीं। इसीलिए जड़-मूर्ति को नमस्कार नहीं करते। जब मूर्ति को भी नमस्कार नहीं करते तो पाटिये, पगले और मृत साधु-साध्वी के शव को क्यो नमस्कार करना चाहिए? हमें अपनी संस्कृति को समझना चाहिए।

कोई साधु-साध्वी अपने गुरु के स्मृति-चिह्न के रूप में उनके पगले स्थापित करवाते हैं और लोग उन्हे नमस्कार करते है। यह बात हमारी सस्कृति से विपरीत है। इससे मिथ्यात्व का पोपण और सम्यक्त्व शोपण होता है।

मै चाहता हूँ कि आप लोगों को अधिक से अधिक सूत्रों का रहस्य समझाया जाय, आपको तत्त्वज्ञान की गहराई में उतारने का प्रयत्न किया जाय। किन्तु सूत्रों का रहस्य एवं तत्त्वज्ञान की गम्भीरता समझने के लिए योग्यता चाहिए, पात्रता होनी चाहिए, मानसिक तैयारी होनी चाहिए, यह योग्यता और पात्रता तब उत्पन्न होती है जब कुसंस्कार दूर हो जाएँ। जब तक कुसस्कार दूर नही होते, तब तक शास्त्र की गहरी बाते हृदय मे टिकना कठिन है। पूर्व के कुसंस्कार दूर हुए बिना सुसंस्कार जीवन में स्थान नही पा सकते। शास्त्र तो रसायन है। जिसका हाजमा कमजोर हो वह स्वर्णभस्म और लोहभस्म कैसे पचा सकता है? पहले हाजमा ठीक बनाना है। फिर रसायन का सेवन करना है।

आप लोगों मे मुझे जो बाते अयोग्य और अनुचित प्रतीत

होती हैं, उनके विषय मे मै आपको सावधान करता रहता हूँ। ऐसा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। साथ ही यह भी कहता हूँ कि अगर हम से कोई भूल हो तो आप लोग बतलाइए। आपकी भूल हम बताएँ और हमारी भूल आप बतलाएँ। ऐसा करन पर ही हम और आप जागृत रह सकते है।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि पुस्तक, शास्त्र, आनुपूर्वी आदि की यातना करो। ऐसा न हो कि तुम ऊपर बैठो और शास्त्र को नीचे रक्खो। जो वस्तु उपयोगी है, उसका ध्यान रखना कर्त्तव्य है। मगर उपयोगी होने मात्र से उसे नमस्कार करना आवश्यक नही हो जाता।

यह पौषधशाला आप लोगो ने अपने धर्मध्यान के लिए बनवाई है। इसमें साधु भी ठहरते हैं, मगर यह साधुओ के लिए नही बनी है। कदाचित् कोई कहे कि यह पौषधशाला न बनती तो साधु कहाँ ठहरते ? इसका उत्तर यही है कि—कहीं अन्यत्र ठहर जाते। साधुओ ने जब अपना निज का मकान ही त्याग दिया तो दूसरे किसी भी मकान से उनका प्रतिबन्ध नही हो सकता। साधु तो रमते राम है ! जगह मिली तो ठहर गये, न मिली तो चलते बने ! उनके लिए आपकी विशाल हवेली और गाँव के बाहर की झोपड़ी—सब समान है।

एक बीबीजी बोलीं—'मियाजी, मै न होती तो किस के साथ शादी करते ?

मिया जी ने चटपट उत्तर दिया—'किसी दूसरी के साथ ! दुनियाँ मे बहुत औरते हैं। तेरे से ही संसार नही बस रहा है।

साधुओ का क्या है। वे कही भी ठहर सकते है। एक जगह नहा तो दूसरी जगह मिल सकती है।

हाँ, तो आपकी पौपधशाला बड़ी उपयोगी है। तो क्या इसे आप वन्दना करेगे ? कहिए, कुछ उत्तर तो दीजिए। चुप क्यो हैं ?

× × ×

तो असल बात यह है कि जब तक पूर्ववर्त्ती कुसस्कार अन्त करण से न निकल जाएँ, तब तक सुसस्कार प्रवेश नही पा सकते। जिस धर्मशाला मे गुण्डे, चोर,डाकू ठहरते हो, उसमे किसी सज्जन व्यक्ति का ठहरना कठिन होता है। अतएव मैं जो आप लोगों को सुना रहा हूँ, वह मूल बीमारी खत्म करने की दवा है। जब शरीर नीरोग हो जाता है तब शक्ति की दवा दी जाती है।

आपके कल्याण का पथ प्रदर्शित करना मेरा कर्त्तव्य है। मै यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ। उस पथ पर चलना या न चलना आपके अधीन है। मेघ का काम बरसने का है। लाभ लेने वाले अपना कर्त्तव्य समझे।

उगे न उगे यह भूमि धर्म है,
हम समकित का बीज बोवाय जाएँगे ॥ १ ॥

जो भव्य प्राणी सुनेंगे यह वाणी,
वे करमों का रोग मिटाए जाएँगे ॥ २ ॥

जो मोह-निद्रा में सोते है प्राणी,
ज्ञान-चरटी से उनको जगाये जाएंगे ॥ ३ ॥

जब तुम नीद मे सोये पड़े रहते हो, तब चौकीदार जागता

रहता है और वह सब को सावधान रहने के लिए चेताता रहता है। जो जागेगा सो पाएगा, जो सोएगा सो खोएगा।

मै भगवान् महावीर का चौकीदार हूँ। पंजाब से तुम्हे जगाने आया हूँ। यह घोषणा सुन कर भी नही जागोगे तो कब जागोगे ? जगाने वाले सहज में नही मिलते।

बात चल रही है सुख के कारण की। बतलाया गया था कि सुख का दूसरा नाम समाधि है। चार प्रकार की समाधि मे विनय-समाधि का वर्णन सुना चुका। बतला चुका हूँ कि विनय सर्वसुखदाता है।

२—श्रुतसमाधि

दूसरी श्रुतसमाधि है। श्रुत का अर्थात् शास्त्र का अध्ययन करने से भी सुख प्राप्त होता है। शास्त्र श्रवण करने से या शास्त्र का अध्ययन करने से परम शान्ति का लाभ होता है। ससार के तीन तापो से सतप्त प्राणी के लिए शास्त्र की वाणी पीयूष-सिचन का कार्य करती है। सब दुखो की जड़ अज्ञान है। अज्ञान के कारण यह प्राणी भव-रोगों का शिकार हो रहा है। श्रतसमाधि अज्ञान को दूर करके, कर्मों की निर्जरा का कारण बन कर मनुष्य के लौकिक और लोकोत्तर कल्याण का मार्ग प्रकाशित करती है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। श्रुतसमाधि से यद्यपि इह-लोक मे भी कल्याण होता है और परलोक में भी कल्याण होता है, तथापि इह-परलोक सम्बन्धी सांसारिक लाभ के लिए उसका सेवन नही करना चाहिए और न यश-कीर्ति के लिए ही कर्मनिर्जरा की भावना से ही श्रुतसमाधि

की आराधना करना उचित है। दशवैकालिक सूत्र में यही विधान किया गया है। कर्म की निर्जरा के लिए किये जाने वाले श्रुत के अध्ययन से सांसारिक सुखों की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है, अतएव सांसारिक सुखों को श्रुताभ्यास का उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए। जिस अनुष्ठान से किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, उसे क्षुद्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करना विवेकशीलता नहीं कही जा सकती। ऐसा करने से वह महान् लाभ तो दूर ही रह जाता है, सिर्फ तुच्छ लाभ ही हाथ लगता है। अतएव बुद्धिमत्ता का यही तकाजा है कि कर्म-निर्जरा रूप उत्कृष्ट की सिद्धि के लिए श्रुत का अभ्यास किया जाय। इसी से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

३—तपःसमाधि

तीसरी तप-समाधि है। तप की सामान्य व्याख्या है—'इच्छा निरोधस्तप.।' अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना, शैतान की भाँति अप्रतिहत अभिलाषाओं पर अकुश लगाना, उन्हें काबू मे करना तप कहलाता है। संसार के दु खो का मूल कारण इच्छा है। मनुष्य के मन में इच्छा उत्पन्न होती है। जब तक वह पूरी नहीं हो जाती तब तक मनुष्य चैन नही पाता। वह उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करता है और समझता है कि इस इच्छा की पूर्ति होने पर मुझे चैन मिलेगा, सन्तोष होगा, सुख होगा। मगर यह आवश्यक नही कि उसकी वह इच्छा पूर्ण हो ही जाय। प्रतिकूल परिस्थिति होती है तो मन की अभिलाषा मन में ही रह जाती है और लाख प्रयत्न करने पर भी पूरी नही होती। उस स्थिति में उसे दु:ख का सामना करना पड़ता है। कदाचित् दैव अनुकूल हुआ और अनुकूल सामग्री

मिल गई और इच्छा की पूर्ति हो गई तो भी मनुष्य को सुख कहाँ? एक इच्छा की पूर्ति होते न होते अनेक नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उनकी पूर्ति के लिए ही मनुष्य भटकता रहता है और सदा दुखी रहता है। अभिप्राय यह है कि अपनी इच्छाओ की पूर्ति करके सुखी बनने का प्रयास कदापि सफल नहीं हो सकता। शास्त्र मे कहा है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

जैसे आकाश का कहीं अन्त नही है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नहीं आ सकता। जब इच्छा का अन्त ही नहीं है तो उसकी पूर्त्ति करने का प्रयास भी सफल नही हो सकता और उस स्थिति में सुखी बनने का मंसूबा भी काफी पूरा नही हो सकता। अतएव केवल ज्ञानियो ने सुखी बनने का उपाय यही बतलाया है कि अपनी इच्छाओं को ही नष्ट कर दो। न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। इच्छा उत्पन्न नहीं होगी तो तज्जन्य विकलता, अशान्ति, असंतोष और बेचैनी भी नहीं होगी और शान्ति प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार इच्छाओं का निरोध कर देना ही सुखी बनने का एक-मात्र मार्ग है। इसके विरुद्ध जो लोग इच्छाओ की पूर्त्ति करके सुखी बनना चाहते हैं, वे अपने प्रयास में कभी सफल नही हो सकते। जैसे अपनी परछाईं को पकड़ना सम्भव नही है, जैसे आकाश का छोर पा लेना असम्भव है, उसी प्रकार इच्छाओ की तृप्ति करके सुखी होना भी असम्भव है। भगवान् ने फर्माया है—

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

हे भद्र! तू अपनी कामनाओं को लांघ जा—इच्छाओ से पार हो जा। अगर तू ने कामनाओ को लांघ लिया तो समझ ले कि समस्त दु खों को लांघ लिया।

की आराधना करना उचित है। दशवैकालिक सूत्र मे यही विधान किया गया है। कर्म की निर्जरा के लिए किये जाने वाले श्रुत के अध्ययन से सांसारिक सुखों की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है, अतएव सांसारिक सुखों को श्रुताभ्यास का उद्देश्य नही बनाना चाहिए। जिस अनुष्ठान से किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, उसे क्षुद्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करना विवेकशीलता नही कही जा सकती। ऐसा करने से वह महान् लाभ तो दूर ही रह जाता है, सिर्फ तुच्छ लाभ ही हाथ लगता है। अतएव बुद्धिमत्ता का यही तकाजा है कि कम-निर्जरा रूप उत्कृष्ट की सिद्धि के लिए श्रुत का अभ्यास किया जाय। इसी से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

३—तपःसमाधि

तीसरी तप-समाधि है। तप की सामान्य व्याख्या है—'इच्छा निरोधस्तप।' अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना, शैतान की भाँति अप्रतिहत अभिलाषाओं पर अंकुश लगाना, उन्हें काबू मे करना तप कहलाता है। संसार के दु:खो का मूल कारण इच्छा है। मनुष्य के मन मे इच्छा उत्पन्न होती है। जब तक वह पूरी नही हो जाती तब तक मनुष्य चैन नही पाता। वह उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करता है और समझता है कि इस इच्छा की पूर्ति होने पर मुझे चैन मिलेगा, सन्तोष होगा, सुख होगा। मगर यह आवश्यक नहीं कि उसकी वह इच्छा पूर्ण हो ही जाय। प्रतिकूल परिस्थिति होती है तो मन की अभिलाषा मन मे ही रह जाती है और लाख प्रयत्न करने पर भी पूरी नहीं होती। उस स्थिति मे उसे दुःख का सामना करना पड़ता है। कदाचित् दैव अनुकूल हुआ और अनुकूल सामग्री

मिल गई और इच्छा की पूर्ति हो गई तो भी मनुष्य को सुख कहाँ ? एक इच्छा की पूर्ति होते न होते अनेक नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उनकी पूर्ति के लिए ही मनुष्य भटकता रहता है और सदा दुखी रहता है। अभिप्राय यह है कि अपनी इच्छाओ की पूर्ति करके सुखी बनने का प्रयास कदापि सफल नहीं हो सकता। शास्त्र मे कहा है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

जैसे आकाश का कही अन्त नही है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नही आ सकता। जब इच्छा का अन्त ही नहीं है तो उसकी पूर्त्ति करने का प्रयास भी सफल नहीं हो सकता और उस स्थिति में सुखी बनने का मंसूबा भी काफी पूरा नही हो सकता। अतएव केवल ज्ञानियो ने सुखी बनने का उपाय यही बतलाया है कि अपनी इच्छाओं को ही नष्ट कर दो। न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। इच्छा उत्पन्न नही होगी तो तज्जन्य विकलता, अशान्ति, असंतोष और बेचैनी भी नही होगी और शान्ति प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार इच्छाओं का निरोध कर देना ही सुखी बनने का एक-मात्र मार्ग है। इसके विरुद्ध जो लोग इच्छाओ की पूर्त्ति करके सुखी बनना चाहते हैं, वे अपने प्रयास में कभी सफल नही हो सकते। जैसे अपनी परछाई को पकड़ना सम्भव नही है, जैसे आकाश का छोर पा लेना असम्भव है, उसी प्रकार इच्छाओ की तृप्ति करके सुखी होना भी असम्भव है। भगवान् ने फर्माया है—

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

हे भद्र ! तू अपनी कामनाओं को लांघ जा-इच्छाओ से पार हो जा। अगर तू ने कामनाओ को लांघ लिया तो समझ ले कि समस्त दु.खों को लांघ लिया।

रोग को मिटाने का सर्वोत्तम उपाय रोग की जड को काट फेकना है। इसी प्रकार समस्त दु खो को नष्ट करने का उपाय इच्छा को समूल नष्ट कर देना है। जब किसी प्रकार की इच्छा ही नही होगी तो दु.ख किस बात का रहेगा ? उस स्थिति मे तो सुख ही शेष रहेगा। इसी कारण केवल ज्ञानियो ने दु.ख से बचने के लिए और सुख प्राप्त करने के लिए तप-समाधि बतलाई है।

जैन धर्म मे तप का बड़ा महत्त्व माना गया है। तप की व्याख्या भी बहुत विस्तृत और व्यापक बतलाई गई है। विनय करना भी तप है, स्वाध्याय करना भी तप है, ध्यान करना भी तप है वैयावृत्य (सेवा) करना भी तप है, अनशन आदि करना भी तप है। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार तप का आचरण कर सकता है और सुख प्राप्त कर सकता है। कहा भी है:—

तनोति धर्मं विधुनोति कल्मषं,
हिनस्ति दु खं विदधाति सम्पदम्।
चिनोति सत्वं विनिहन्ति तामसं,
तपोऽथवा किं न करोति देहिनाम्?

तप से धर्म की वृद्धि होती है, पाप का विनाश होता है, दु ख का घात होता है, सामर्थ्य की प्राप्ति होती है, तामसिक प्रकृति दूर होती है। सच तो यह है कि तप से सभी प्रकार के मङ्गल की प्राप्ति होती है। तप में सभी मनोरथों को पूर्ण करने की अपूर्व क्षमता है।

यद् दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥

—जो दूर है, जिसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन जान पड़ता —जो दूर पर स्थित है, वह सब तप के प्रभाव से सरलता —क साध्य बन जाता है। तप की शक्ति अनुल्लंघनीय है। उसे —ई रोक नही सकता। अतएव जिसे सुख प्राप्त करने की —भिलाषा है, उसे तप समाधि का सेवन करना चाहिए।

४—आचार-समाधि

चौथी आचार-समाधि है। यहाँ तुम्हारे वाला आचार नहीं समझना है। तुम्हारा आचार तो लाली बाई अर्थात् जीभ को पुष्ट करता है। यहाँ आचार का अर्थ है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। इन पाँच प्रकार के आचारों का पालन करना आचार समाधि है। यह आचार-समाधि अनन्त सुख की प्राप्ति का साक्षात् कारण है। इसके पालन से आत्मा आनन्द का धाम बन जाता है।

आचार सुख का अनिवार्य साधन है, इस विषय में दो मत नही हो सकते, किन्तु वह भी विवेकपूर्वक होना चाहिए और सासारिक लाभ के उद्देश्य से उसका सेवन नही करना चाहिए।

मैं चाहता था कि 'सर्व प्राणी सुख क्यों चाहते हैं' इस प्रश्न का फैसला कर देता। मगर केस हाईकोर्ट मे पहुँच गया है। ऊँचे दर्जे की बहस की अपेक्षा रखता है। अतएव फैसले मे देरी हो रही है। मगर चिन्ता मत करो। कुछ ही दिनों मे फैसला हो जायगा। बड़ा 'केस' है, अत. शीघ्र निर्णय नही हो सकता।

प्राणी-मात्र मे पाई जाने वाली सुखेच्छा की पृष्ठ-भूमिका क्या है? क्यों समस्त प्राणी सुख की अभिलाषा रखते हैं? यह

विषय आज पूर्ण नहीं हो सका और प्रवचन का समय समाप्ति के सन्निकट आ पहुँचा है; अत. कल इस पर प्रकाश डालने की इच्छा है।

अन्त में, संक्षेप मे यही कहना है कि जो सच्चा सुख चाहो तो अरिहन्त प्रभु के भक्तिपूर्वक गुण गाया करो। जो वीतराग भगवान् का गुणगान करते हैं, वे इस लोक मे और परलोक में सुख पाते हैं।

राजकोट
ता० २२-७-५४

विषय आज पूर्ण नहीं हो सका और प्रवचन का समय समाप्ति के सन्निकट आ पहुँचा है; अतः कल इस पर प्रकाश डालने की इच्छा है।

अन्त में, संक्षेप मे यही कहना है कि जो सच्चा सुख चाहो तो अरिहन्त प्रभु के भक्तिपूर्वक गुण गाया करो। जो वीतराग भगवान् का गुणगान करते हैं, वे इस लोक मे और परलोक मे सुख पाते हैं।

राजकोट
ता० २२-७-५४

विषय आज पूर्ण नहीं हो सका और प्रवचन का समय समाप्ति के सन्निकट आ पहुँचा है; अत. कल इस पर प्रकाश डालने की इच्छा है।

अन्त में, संक्षेप में यही कहना है कि जो सच्चा सुख चाहो तो अरिहन्त प्रभु के भक्तिपूर्वक गुण गाया करो। जो वीतराग भगवान् का गुणगान करते हैं, वे इस लोक में और परलोक मे सुख पाते हैं।

राजकोट
ता० २२-७-५४

विषय आज पूर्ण नहीं हो सका और प्रवचन का समय समाप्ति के सन्निकट आ पहुँचा है; अत. कल इस पर प्रकाश डालने की इच्छा है।

अन्त मे, संक्षेप मे यही कहना है कि जो सच्चा सुख चाहो तो अरिहन्त प्रभु के भक्तिपूर्वक गुण गाया करो। जो वीतराग भगवान् का गुणगान करते हैं, वे इस लोक मे और परलोक मे सुख पाते हैं।

राजकोट
ता० २२-७-५४

जिन्हे प्राप्त करने के लिए दूसरे लोग तरसते हैं, त्याग कर मुनि-वृत्ति अङ्गीकार करते हैं। सुख प्राप्त करने के लिए ही तो !

आप लोग दिन भर व्यापार की बात सोचते रहते हैं कि कौन-सा धन्धा किया जाय, जिससे कुछ प्राप्ति हो ! दिन में ही नही, रात मे भी खटिया पर पड़े-पड़े यही मानसिक-चक्र चलता रहता है कि कैसे आय की वृद्धि की जाय ? कैसे सुख-साधन बढ़ाये जाएँ। खाते-पीते, उठते बैठते, सर्वत्र, सब समय व्यवहार विषयक द्वन्द्व चलते रहते हैं। आप धन कमा कर भौतिक सुख प्राप्त करना चाहते है।

भौतिक सुख से ऊपर उठकर आत्म-चिंतन की बात तो विरले ही सोचते है। धन तथा अन्य पदार्थों की इच्छा भी सुख-साधनो की वृद्धि के लिए ही की जाती है। देश, जाति या समाज के लिए तो शायद ही कोई विचार करता है। प्रत्येक के आचार और विचार का मुख्य ध्येय अपना सुख ही होता है।

गृहस्थ ही सुख चाहते हों सो बात नहीं। गृहस्थों के समान साधु भी सुख चाहते हैं। मगर दोनों की सुख की कल्पना में अन्तर होता है। गृहस्थ भौतिक सुख के लिए और साधु आध्यात्मिक सुख के लिए प्रयास करते हैं। मगर लक्ष्य तो दोनों का सुख ही है।

शास्त्र कहता है—'पंचहिं कामगुणहिं' पाँच प्रकार के काम-गुण अर्थात् इन्द्रियों के विषय के लिए अज्ञानी प्राणी रात-दिन यत्न करते हैं। वे आत्मगुणों के लिए नहीं, किन्तु इंद्रिय-विषयों के लिए सतत परिश्रम करते रहते हैं। अज्ञानी जीवों को आत्मिक गुणों का—सहज आत्मानन्द का—बोध नहीं होता, इन्हे वैषयिक गुणों का ही ज्ञान होता है, अत. वे उसी

के लिए सतत चेष्टा करते है। किन्तु जिन्हे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है, जिनको आत्मगुणो का वोध हो गया है, वे आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करते है। उन्हें इन्द्रियो के विषय निस्सार और नि स्वाद प्रतीत होने लगते है। अतएव वे उनके लिए दौड़धूप नही करते।

साधु 'पडिक्कमामि पचहि कामगुणेहि' का रटन करता है। वह प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करता है और उसमें वैषयिक सुखो से निवृत्त होने के लिए प्रतिज्ञा करता है।

आप लोग भी हमारा प्रतिक्रमण करते हो, अर्थात् श्रमणसूत्र का पाठ पढ़ते हो, परन्तु काम उसके विपरीत करते हो। प्रतिदिन प्रात काल, सायकाल पाँच कामगुणो से निवृत्त होने की वात उच्चारते हो और साथ ही दिन भर पाँच कामगुणो को जुटाने का प्रयत्न करते हो। जीवन मे यह एक विरोध है जो प्रगति के पथ मे वाधक होता है। किन्तु जान पडता है, आपके देश की रीति है, इसी कारण आप श्रमणसूत्र का उच्चारण करते है। पजाव एव मारवाड मे श्रावक लोग साधुप्रतिक्रमण अर्थात् श्रमणसूत्र नही बोलते। अग्नि मे पेट्रोल या ईधन डालने से वह भभकती है। एक तरफ आग मे घासलेट डालते जाना और दूसरी तरफ 'पडिक्कमामि' कहते जाना कहाँ तक उचित है। हाँ, कभी कभी गृहस्थ जीवन मे अग्नि लगानी भी पड़ती है और कभी बुझानी भी पडती है। भोजन वनाते समय अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती है, मगर इस वात का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है कि कहीं आग भभक कर चूल्हे से वाहर निकल कर घर को ही भस्म न कर दे। इसी प्रकार गृहस्थ मर्यादा मे रहकर, प्रयोजन के अनुसार इन्द्रिय विषयों

को जुटाता है, तो गृहस्थ-धर्म के अनुसार उसका ऐसा करना अनुचित नही कहा जा सकता। किन्तु गृहस्थ-जीवन में यदि मर्यादा ही न रक्खी जाय या मर्यादा का अतिक्रमण किया जाय तो अनुचित है। ऐसा करना गृहस्थ के लिए भी दु:ख का कारण होता है।

श्रावक का जीवन एकान्त त्यागमय नहीं होता तो एकान्त भोगमय भी नहीं होता। उसे अपने जीवन को मर्यादित रखना चाहिए। श्रावक के चतुर्थ व्रत में 'कामभोगेसु तिव्वभिलासा' अर्थात् कामभोगो मे तीव्र अभिलाषा रखना श्रावकव्रत का अतिचार—दोष गिना गया है। यद्यपि प्रत्याख्यानावरण-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से श्रावक एकान्त त्यागमय वृत्ति को नहीं प्राप्त कर पाता और वह भोग भोगता है, तथापि उसमें उदासीनता होना आवश्यक है। श्रावक की भावना यही बनी रहती है कि—

कब आयगा वह दिन कि बनूं साधु विहारी।

अर्थात् वह दिन धन्य होगा, जब मैं आरभ और परिग्रह का सर्वथा त्याग करके, भोग और विलास से एकान्त निवृत्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बनूँगा। मेरी यह कायरता है कि मै अब तक विषयों पर काबू नही पा सका हूँ और इस कारण इन्द्रिय-विषयो मे आनन्द मानता हूँ और सुख का अनुभव करता हूँ।

श्रावक का गुण-स्थान पाँचवाँ है। यह दुर्बलों का गुण-स्थान है। सत्त्वशाली और साहसी पुरुष इस गुण-स्थान में कदम नहीं रखते। वे चतुर्थ गुण-स्थान से सीधे छठे सर्वविरति-गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा बलदेव जैसे महन् पुरुष भोगों से सर्वथा विमुख होकर सीधे सर्वविरति-

गुणस्थान की भूमिका पर जा पहुँचते हैं। वे त्याग-भोगमय श्रावकविरति अङ्गीकार न करके साधुविरति ही अङ्गीकार करते हैं।

शास्त्रों मे वर्णन आता है कि अमुक नगरी मे भगवान् पधारे। लोग दर्शनार्थ गए। भगवान् ने उपदेश दिया। भगवान् का उपदेश त्यागमय होता है। 'जहा जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंत करेन्ति।' अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ऐसा प्रवचन करते है, जिससे जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण प्राप्त करते है और समस्त दु:खों का अन्त करते हैं। भगवान् का प्रवचन ऐसा नही होता कि श्रोता संसार के मायाजाल में फँस जाय।

भाइयो! तीर्थंकर भगवान् का उपदेश 'प्रवचन' कहलाता है, वचन नही। वचन और प्रवचन में अन्तर है। वचन तो द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी जीवों को प्राप्त है। टिड्डा भी जगल में बड़े जोर की आवाज करता है। सभी त्रस जीव अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार बोलते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य पूर्ण पर्याप्तावस्था न होने के कारण नही बोलते, शेष सभी त्रस जीव पर्याप्तावस्था मे बोल सकते हैं। नारक, देव, जलचर, स्थलचर और नभचर—सभी जीवो मे वचन बोलने की शक्ति विद्यमान है। परन्तु यह सब वचन अपने अपने स्वार्थ के लिए होते है। लौकिक भावों को व्यक्त करते हैं। उनमें परमार्थ-दृष्टि नहीं होती। किन्तु प्रवचन वह कहलाता है, जिससे आत्म-बोध हो। जिन वचनो मे परमात्मभाव भरा हो, ज्ञान दर्शन चारित्र और तप का विवेचन हो, मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन हो, षट् द्रव्यों, नव तत्त्वो, सात नयो, चार निक्षेपों का, सामान्य—

विशेष का तथा निश्चय व्यवहार आदि की विवेचना हो, वे वचन प्रवचन कहलाते हैं।

'प्रवचन' में 'प्र' उपसर्ग लगा है। यह उपसर्ग प्रकृष्टता अर्थात उत्कृष्टता का सूचक है। 'प्रकृष्ट वचनम्-प्रवचनम्' अर्थात् श्रेष्ट वचन को प्रवचन कहते हैं। अथवा 'प्रकृष्टस्य वचनम् प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष के वचन को प्रवचन कहते है। इन दो व्युत्पत्तियों में से पहली व्युत्पत्ति में कर्मधारय समास है और दूसरी में तत्पुरुष समास। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार ही वीतराग भगवान की वाणी को प्रकृष्ट रूप में प्रदर्शित किया गया है और दूसरी व्युत्पत्ति में सर्वज्ञ भगवान् तथा उनके उपदेश के अनुसार चलने वाले महापुरुषों को प्रकृष्ट कहा गया है। तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट वाणी या उत्कृष्ट पुरुष की वाणी को प्रवचन कहते है। एकान्त और अत्यन्त कल्याण करने वाले वचन ही प्रकृष्ट वचन होते हैं। अत अभिप्राय यही निकला कि जिन वचनों मे जीव का एकान्तिक एव आत्यन्तिक कल्याण होता है, वही वचन प्रवचन कहलाते हैं। प्रवचन की विशेषता यह है कि विषय-वासना के जाल में फँसे हुए संसारी जीवों को भोग की ओर न ले जाकर योग की ओर ले जाते हैं।

सर्वज्ञता और वीतरागता को प्राप्त तीर्थंकरों का उपदेश प्रवचन है। तीर्थंकरों की वाणी पैंतीस अतिशयों से युक्त होती है। उनके प्रवचन सुनने के लिए देव, देवियाँ, मनुष्य, मनुष्यनियाँ, तिर्यंच, तिर्यंचनियाँ, साधु 'साध्वी, श्रावक, श्राविका आदि सब उपस्थित होते हैं। सब श्रोता भगवान् की वाणी को अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। यद्यपि भगवान् अर्द्ध-

मागधी भाषा में प्रवचन करते हैं, तथापि उनकी वाणी की यह विशेषता है कि सब श्रोता उसे समझ लेते है। भगवान् के वचन स्पष्ट और व्यक्त होते हैं। एक योजन तक उनकी आवाज पहुँच जाती है। कोई भी श्रोता सुनने से वंचित नही रहता। प्रभु के प्रवचन को अमल में लाना, न लाना या आंशिक रूप से लाना तो श्रोताओं की योग्यता या शक्ति पर अवलंबित है।

हम लोगो से यह विशेषताएँ नही हैं। हमारी वाणी बहुत दूर तक नही पहुँच पाती और न सर्व श्रोता समान रूप से उसे समझ पाते है। सामान्य केवलियों मे भी वाणी के सब अति-शय नहीं होते। कुछ होते हैं और कुछ नही भी होते है।

तीर्थंकर भगवान् विश्व की विभूति होते हैं। समान रूप से प्राणी-मात्र के कल्याण के लिए उनका प्रवचन होता है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा प्राणी मात्र को प्रकाश देने के लिए उदित होते हैं, किसी वर्ण, वर्ग, जाति या समूह के लिए नही, उसी प्रकार भगवान् भी निर्विशेष रूप से सब के हित के लिए अपने प्रवचन-पीयूष की वर्षा करते है। भगवान् का उपदेश तो मुक्त उपदेश ही होता है। किन्तु जिन जीवों के दर्शनमोहनीय कर्म क्षय, क्षयोपशम या उपशम हो जाता है, वे प्रवचन को श्रवण करके सम्यक्त्त्व का लाभ करते है। जिनके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि होता है, वे देश-चारित्र या सर्वचारित्र को अङ्गीकार करते है। जिसके खीसे मे जितना दाम हो, उतने मूल्य की वस्तु वह खरीद सकता है। करोड़ की पूंजी वाला करोड़ की और चार छह रुपयों की पूंजी वाला चार छह रुपयो की वस्तु खरीदता है। ऐसा नहीं है कि करोड़ की पूंजी न हो तो अल्प मूल्य की वस्तु भी न खरीदी जा सके।

भगवान् के प्रवचन को श्रवण करने के लिए उपस्थित हुए श्रोताओ मे से कई खड़े होकर कहते हैं—प्रभो ! आपका प्रवचन सत्य है, तथ्य है, यथार्थ है, कल्याण का कारण है, परम मङ्गल का अनुपम मार्ग है ! किन्तु इस त्यागमय मार्ग का पूर्ण रूप से पालन करने की मुझमे शक्ति नही है। अत मैं देशविरति अङ्गीकार करना चाहता हूँ। कृपया देशविरति प्रदान कीजिए।

भगवान उत्तर देते हैं—'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह।'

अर्थात्—हे देवों के प्यारे; जिस प्रकार तुम्हे सुख उपजे वैसा करो; परन्तु देरी मत करो। जो करना हो, जल्दी कर लो।

इस प्रकार श्रावक का गुणस्थान कमजोरी का सूचक है। वह यथाशक्य आंशिक आचरण करने का दर्जा है। वह पूर्ण त्याग की उपादेयता को अङ्गीकार करता है, उसके प्रति श्रद्धा और अभिलाषा रखता है, तथापि अभी पाँच प्रकार के काम-गुणों से सर्वथा विरक्त नही हुआ है। वह इद्रिय के विषयों मे सुख का अनुभव करता है।

पाँच इन्द्रियो के विषय हैं—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। ससार के प्राणियों का प्रयास इन्ही विषयो की प्राप्ति के लिए है। यद्यपि विषयों में सुख नहीं है और भोग में रोग का भय निहित है, तथापि जीव भ्रम एवं अज्ञान के वश होकर उसमें सुख मानते हैं और उसकी प्राप्ति के पीछे अपना अमूल्य जीवन खपा देते हैं। ज्ञानी जन डके की चोट कहते हैं :—

वरं हालाहलं भुक्तं, विषं तद्भवनाशनम् ।
न तु भोगविषं भुक्त-मनन्त भव दुखःदम् ॥

हालाहल नामक तीव्र विष खा लिया जाय तो उससे एक ही भव मे मृत्यु का शिकार होना पड़ता है ; किन्तु भोग रूपी विष उससे बहुत अधिक भयानक है। वह अनन्त भवो मे दु ख देने वाला है। अतएव हालाहल विप का सेवन कर लेना अच्छा, मगर भोग रूपी विप का सेवन करना अच्छा नही। अभिप्राय यह है कि भोग भोगने से अनन्त भवो तक जीव को दु ख भोगने पड़ते हैं।

ज्ञानी पुरुषों की इस तरह की घोपणा होने पर भी मोहनीय कर्म के चगुल मे फंसे ससारी जीव भोगो का परित्याग नही कर पाते। अतएव वे विषयो मे ही सुख का अनुभव करते हैं और महान् आराधना एव साधना के योग्य इस जीवन को वृथा नष्ट कर डालते हैं।

साधु पुरुप जो साधनामय जीवन व्यतीत करते हैं—उसका उद्देश्य भी सुख ही होता है। उनके त्यागमय जीवन का भी लक्ष्य सुख है; किन्तु भौतिक सुख नही। वे इन्द्रियजनित सुख के लिए साधना नही करते। आत्मिक सुख के लिए ही वे सतत चेष्टा करते हैं।

इस प्रकार क्या गृहस्थ और क्या साधु, सब का प्रयास सुख के लिए ही है। पाँच इद्रियो के विपयो के अतिरिक्त कीर्ति के उद्देश्य से भी लोग प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कीर्त्ति प्राप्त करने मे भी सुख का आभास होता है। कीर्त्ति, यश, आत्म-प्रदर्शन के लिए भी लोग अनेक चेष्टाएँ करते हैं। इस रोग से साधु कहलाने वाले भी नहीं बच पाए हैं।

कीर्त्तिजन्य सुख को पाने के लिए लोग न जाने कितने सच्चे झूठे तरीके काम मे लाते हैं। लोगो की इस दुर्निवार कीर्त्ति-लिप्सा पर किसी कवि ने वहुत अच्छा व्यङ्ग किया है—

घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात्, कुर्याद् रासभरोहणम्।
येन केन प्रकारेण, प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥

मनुष्य को किसी न किसी उपाय से प्रसिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। प्रसिद्ध प्राप्त करने के लिए चाहे घट फोड़े, चाहे कपड़ा फाड़े, और इससे भी काम न चले तो गधे पर सवार होकर निकले।

सचमुच ऐसी ही लोगो की मनोवृत्ति है! कीर्त्ति एक ऐसी वला है कि इसके पीछे लोग पागल हो रहे है। पता नही क्या स्वाद आता है प्रसिद्धि से। कभी-कभी तो प्रसिद्धि के लिए लोग घोर दुष्कर्म भी कर डालते हैं। मगर कुछ भी हो, प्रसिद्ध और कीर्ति मे भी सुख मानते हैं।

कल के 'बम्बई-समाचार' (गुजराती दैनिक) मे मैंने एक समाचार पढ़ा है। 'अमारा खबरपत्रीना तरफथी' लिख कर नीचे एक भाई लिखता है—

'मैं ने तेरा पन्थ के आचार्य श्री तुलसी की मुलाकात की उनकी मुद्रा देख कर भगवान् बुद्ध याद आ गये। मैं यह भी भूल गया कि स्वप्न मे हूँ या जागता, इत्यादि।'

उस भाई पर इतना प्रभाव पडा कि वेचारा अपने आपको भूल गया। उसने आचार्य तुलसी से अनेक प्रश्न किये हैं, जिनका उत्तर भी वहाँ दिया हुआ है।

तेरा पन्थ, स्थानकवासी आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज के सम्प्रदाय मे से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व निकला है भीखणजी

नामक साधुजी की दया और दान से विरुद्ध मान्यता देखकर उनके गुरुजी स्थानकवासी आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज ने अपने सम्प्रदाय से उन्हे अलग कर दिया था। भीखण जी आदि तेरह साधु एक साथ अलग हुए थे, अत. एक सेवक ने 'तेरह पन्थ' नाम रख दिया और आगे चल कर इसी नाम से वह सम्प्रदाय प्रसिद्ध हो गया। अब तो तेरा पन्थी लोग अपने सम्प्रदाय को भगवान् का पंथी वतलाते हैं। कहते हैं—'हे भगवान्! यह तेरा पन्थ है।' किन्तु प्रामाणिक इतिहास साक्षी है कि स्थानकवासियो में से निकाले हुए श्रद्धाभ्रष्ट तेरह साधुओं का यह पन्थ है। इसी पन्थ के नौवे वर्त्तमान आचार्य तुलसी-राम जी वम्बई पहुँचे हैं।

एक भाई ने प्रश्न किये हैं और तेरह पन्थी आचार्य ने उनके उत्तर दिये हैं। उक्त समाचार की भाषा शैली और रग ढङ्ग देख कर शक होता है कि क्या सचमुच किसी व्यक्ति ने उनके पास पहुँच कर ये प्रश्न किये हैं या यह सब ढकोसला ही खड़ा किया है। जिस अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है, उसे देखते अनुमान होता है कि कोई विद्वान् या समझदार व्यक्ति इतनी अधिक अतिशयोक्ति नहीं कर सकता। शायद उनके किसी साधु या श्रावक भक्त ने अपने गुरुजी की कीर्तिपताका लहराने के लिए यह तूल खड़ा किया है।

कहीं की ईंट कहीं का रोडा,
भानमती ने कुनवा जोड़ा।
किसी का छोग किसी की धी,
इसका नाम है चार सौ बी॥

आज कल चार सौ वीस बहुत चलती है। आश्चर्य और खेद की बात तो यह है कि धर्म के पवित्र क्षेत्र में भी उसका प्रवेश हो गया है।

धर्म तो सरल, शुद्ध और पवित्र हृदय मे ही टिक सकता है। शास्त्र मे कहा है—

'सोही उज्जुभूयस्स।'

अर्थात् जो ऋजु होता है, जिसके चित्त में वक्रता नही होती, छल-कपट नहीं होता, कषाय की मलीनता नहीं रहती, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। जिसका चित्त कुटिल है, कपटयुक्त है, जिसके अन्त करण में सरलता नही है, जिसके मन वचन और कार्य मे विरूपता होती है, उसका धर्म से सरोकार नही रह सकता। किन्तु धर्म के क्षेत्र मे भी चार सौ बीस का प्रवेश हो गया है, यह कितने खेद का विषय है।

चार सौ बीस करने वाले स्वार्थलम्पट लोग जन-समूह को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए और उनसे प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक हथकडे काम मे लाते हैं। जनसमूह जिस वस्तु पर श्रद्धा रखता है, उसी के नाम पर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। धर्म के प्रति आज भी जनता का सबसे अधिक आदर-भाव है। अतएव वे लोग धर्म को ही अपना औजार बना लेते हैं। इसी कारण धर्म के नाम पर ठगाई हो रही है। धर्म जैसे उत्कृष्ट, परमपावन, हितकारी विषय को भी दुर्जनो ने अछूता नही छोड़ा। शास्त्रकारों ने धर्म की बड़ी प्रशसा की है। धर्म को उत्कृष्ट मगलकारी कहा है। धर्म मानव-जाति के लिए अद्वितीय वरदान है। समग्र विश्व धर्म के आधार पर ही टिका हुआ है। धर्म की बराबरी कोई नहीं कर सकता। उर्दू में उसे लासानी कहते हैं। नहीं है बराबरी जिसकी वह लासानी कहलाता है। तीर्थंकर भी धर्म की बराबरी नहीं कर सकते। धर्म की कृपा से तीर्थंकर बने हैं, न कि तीर्थंकर की कृपा से धर्म बना है। तीर्थंकर का जीवन मर्यादित होता है, जब कि धर्म शाश्वत है।

एस धम्मे धुवे नीए, सासए जिणदेसिए।
सिज्भा सिज्भंति चाणेणं, सिज्भिस्संति तहावरे ॥

धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट है। भूतकाल मे धर्म के प्रताप से ही अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्य मे सिद्ध होंगे।

पुद्गल की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल की है। यह स्थिति द्रव्य की अपेक्षा से है, क्योकि पर्याय तो समय समय मे पलटते रहते है। मगर धर्म की स्थिति मर्यादातीत है। उसकी न आदि है और न अन्त है। धर्म अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। ऐसे उत्कृष्ट धर्म को भी मिथ्यामतियो ने विकृत रूप मे जनता के सामने रक्खा है, यह दु ख की बात है।

हाँ, तो 'बम्बई समाचार' का वह प्रश्न-कर्त्ता आचार्य तुलसी के पास पहुँचा। सचमुच मे पहुँचा या नही पहुँचा, यह मैं नहीं जानता, ज्ञानी जाने। समाचार मे लिखा है कि वह पहुँचा। शक करने का कारण यह है कि एक तरफ तो वह लिखता है कि आचार्य तुलसी अन्धकार मे बैठे थे और दूसरी तरफ लिखता है कि उनकी आँखो का तेज देख कर मै चकित रह गया। बिल्ली की आँखे अन्धकार में चमकती हैं, पर मनुष्य की आँखों का उस प्रकार चमकना देखा-सुना नही। जो हो, यह वात तो आप लोग भी जानते हैं कि कितनेक प्रशंसा के लोभी—मान-बड़ाई के भूखे लोग अपनी तरफ से ही प्रश्न उठा लिया करते हैं और उत्तर भी स्वय दे डालते है। फिर दूसरे के नाम पर उसका विज्ञापन करते हैं।

एक बुढ़िया के पुत्र न था। पुत्र न होने से पुत्रवधू भी नही

थी। बेचारी के मन में बड़ा चाव था कि कोई मेरे भी पैर दबावे और मैं उसे आशीर्वाद दूँ। जब कोई स्त्री पैर दबाने वाली न मिली तो वह स्वयं ही अपने पैर दबाने लगी और आशीर्वाद देने लगी कि—अमर रहो सौभाग्य! पंजाबी बोली में लोकोक्ति है—

आपे पेरी पैंदी, आपे चूड सुहागरण।

तेरापथ सम्प्रदाय में से ऊब कर निकले हुए साधक हस्तीमलजी ने 'साधुत्व के संस्मरण' नामक पुस्तक लिखी है। वे लिखते है कि साधु लोग फर्जी नाम से लेख लिखते हैं। अपने आचार्य के संस्मरण नकली नाम से दे दिया करते हैं।

'बम्बई समाचार' वाला वह लेख भी ऐसा ही लगता है। यह लेख सच्चे नाम से लिखा गया हो या झूठे नाम से, हमें इससे कोई मतलब नही है। हमे तो इस बात का विचार आता है कि धर्म जैसे उत्कृष्ट पदार्थ को कुछ लोग गंदा कर रहे हैं। जिस धर्म के नाम पर जिन्दगी गुजारते हैं, उसी धर्म को बदनाम करते हैं। जिन महावीर के नाम पर रोटी माँग कर खाते हैं, उन्ही को चूका हुआ बतलाते हैं।

भगत जगत में हो गए, होंगे तथा अनेक।
पर भूले भगवान का, भक्त पथ है एक॥
बैठे हैं जिस डाल पर, रहे उसे ही काट।
भीखणजी हैं सोहते, कालिदास के पाट॥

कविवर कालिदास के लिए प्रसिद्ध है कि अपनी पूर्वावस्था में वह इतने मूर्ख थे कि वृक्ष की जिस शाखा पर बैठे थे, उसी पर कुल्हाड़ा चला रहे थे। उन्हें इतना भी भान नहीं था कि शाखा कटेगी तो हम स्वयं धड़ाम से धरती पर जा गिरेंगे!

कालिदास के विषय में यह किंवदन्ती सत्य हो या न हो, मगर अपने आराध्य और आधारभूत भगवान महावीर को भूला बतलाने वाले भीखणजी के विषय में यह उक्ति अवश्य चरितार्थ होती है।

धर्म अहिंसा रूप है। अहिंसा को दया भी कहते है। अहिंसा लँगड़ी या कानी नही है। उसकी दोनों टाँगे और दोनो आँखे हैं। अहिंसा का अर्थ होता है—किसी जीव को न सताना, न पीडा पहुँचाना, न मारना और मरते हुए को बचाना, दुखी के दुःख को दूर करना और असाता के वशीभूत होकर आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करते जीव को साता पहुँचाना। एक प्रबल व्यक्ति किसी निर्बल को सताता हो तो उसे समझा-बुझा कर या उपदेश आदि देकर सताए जाने वाले व्यक्ति की रक्षा करना। अहिंसा धर्म के यह दोनों आवश्यक पहलू हैं। न मारना भी दया है और बचाना भी दया है। इन दोनो पहलुओं के समन्वय से ही दया धर्म में पूर्णता आती है। इनमें से एक पहलू को स्वीकार करना और दूसरे को अस्वीकार कर देना विचार और दृष्टि की अपूर्णता है। इस प्रकार जिसकी दृष्टि से लँगड़ापन और काणापन है, वह दया जैसे महामहिमामय धर्म को भी लँगड़ा और काणा बना देता है।

कुछ लोग कहते हैं--न मारना ही अहिंसा का सच्चा अर्थ है; बचाना अहिंसा का अर्थ नहीं है। मरते जीव को बचाने से, जीव की रक्षा करने से, अठारह पाप लगते हैं। उनके मत से जीव को मारने वाला एक ही पाप का भागी होता है, जबकि बचाने वाला अठारह पापो का भागी होता है! कितने विस्मय की बात है! विचार का यह बेहूदापन शायद ही कहीं देखने को

भिजे। विचारशीलता का इस प्रकार दिवाला शायद ही किसी ने निकाला हो। संसार मे बड़े बड़े हत्यारे विद्यमान हैं, मगर वे भी मारने की अपेक्षा रक्षा करने मे अठारह गुना ज्यादा पाप नहीं कहेंगे।

भद्र पुरुषो! इस विषय में अनेक तर्क और आगम वाक्य उपस्थित किए जा सकते हैं और सिद्ध किया जा सकता है कि उल्लिखित मत सर्वथा सिद्धान्त विरुद्ध है। परन्तु मैं नही समझता कि ऐसा करने की आवश्यकता है। जो बात अपने निज के अनुभव से ही सिद्ध है, उसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी भद्र मनुष्य का अन्तःकरण स्वयं साक्षी दे सकता है कि पीड़ा से छटपटाते हुए, तड़फते हुए प्राणी को साता—शान्ति पहुँचाना पाप है या पुण्य है! कल्पना कीजिए, आप के ऊपर कोई मुसीबत आ पड़ी है। मान लीजिए कि एक आपको डाकू गोली से उड़ा देने के लिए बंदूक का निशाना लगा रहा है। कहता है, सावधान, मैं तेरी जान लेता हूँ। इतने में कोई दयावान् पुरुष आ जाता है और किसी उपाय से आपके प्राणों को बचा लेता है। इस स्थिति में आपका अन्त करण क्या सोचेगा? क्या आप कह सकते हैं कि प्राण लेने वाले डाकू की अपेक्षा बचाने वाला बहुत बड़ा पापी है! अठारह गुना पाप का भागी है? छि! मूर्ख से मूर्ख भी ऐसा नही सोच सकता।

जो लोग जीव-रक्षा करने में एकान्त पाप बतलाते हैं, वे स्वयं जमीन को देख-देखकर पैर क्यों धरते हैं? मुनि के लिए ईर्यासमिति के पालन को आवश्यक क्यों समझते हैं? वे वहाँ क्यों नही सोचते कि मुनि रास्ता देख कर चलेगा तो जीव मरने से बच

जाएंगे और बचाने वाले मुनि को भी अठारह पापों का भागी होना पड़ेगा।

इस विषय में वे यही सफाई पेश कर सकते हैं कि अपने पैरों से मरने वाले जीव को बचाने में पाप नही होता, वरन् धर्म होता है। तो इसी प्रकार दूसरे के पैरों से मरने वाले जीव को अगर कोई बचाले तो क्यो पाप हो जाता है? अपने पैर से मरते जीव को बचाना एकान्त धर्म है और दूसरे के पैर से मरते को बचाना एकान्त पाप है? यह अन्तर कैसे पड़ गया? पता नही, ससार के किस अनोखे शास्त्र ने यह विधान कर दिया है? किस अलबेले गुरु ने कान मे फूंक मार दी है?

अगर अपने पैर से मरने वाले जीव को बचाना भी पाप मान लिया जायगा तो ईर्यासमिति का पालन करने वाला मुनि एकान्त पापी ठहरेगा और ऐसी हालत में किसी भी जीव को न बचाना और जो सामने आ जाय उसे मार डालना ही धर्म ठहरेगा! फिर तो अहिंसा के बदले हिंसा करना ही मुनि के लिए पहला महाव्रत हो जायगा।

जीवरक्षा मे पाप मानने वालों का कथन है कि मरने से बचाया हुआ जीव, जीवित रह कर अनेक प्रकार के पापों का सेवन करता है। बचाने वाला उसके उन सब पापों का भागी होता है। मगर वे यह नही सोचते कि बचाने वाला अगर उस जीव को न बचावे और मर जाने दे तो क्या वह पुनर्जन्म धारण करके पापो का सेवन नहीं करेगा? क्या इस प्रकार मरने वाला जीव मोक्ष-धाम में पहुँच जायगा कि सब प्रकार के पापो से मुक्त हो जाए! इसके अतिरिक्त यही युक्ति अपने पैर से मरने वाले जीव के विषय मे भी दी जा सकती है। वहाँ

भी कहा जा सकता है—साधु ईर्यासमिति से जीवों को मरने से बचाता हुआ चलता है। वे बचे हुए जीव आरंभ समारंभ आदि पाप करते हैं। उनके सब पापों का भागी वह साधु होता है, जिसने उन्हें मरने से बचाया है। न साधु उन्हें बचाता और न वे पाप करते!

इस प्रकार जीव-रक्षा करने में पाप है, यह मत किसी भी प्रकार उपादेय नहीं हो सकता। कोई भी विवेकवान् व्यक्ति इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकता। बड़े ही खेद की बात है कि भगवान् महावीर के पावन नाम पर इस प्रकार का दया-विरोधी मत प्रचलित हुआ है।

भाइयो! भगवान ने जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा रूप दया के लिए ही प्रवचन किया था। प्रश्न व्याकरण-सूत्र में, स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख मिलता है—'सव्व-जगजीव-रक्खणदयठ्याए पावयणं भगवया सुकहियं।' अतएव निश्चय समझो कि भगवान् महावीर की दया या अहिंसा लँगड़ी नहीं है। वह परिपूर्ण है। रक्षा करना परम धर्म है। इसके लिए शास्त्रों में अनेक दृष्टान्त भरे पड़े हैं।

एक बार गर्दभाली मुनिराज केसरी नामक वन में ध्यान में मग्न थे। मुनि तो योग में ही मस्त रहते हैं। कहा है –

राजा तो मगन राजकाज के सवाज पर,
रङ्क तो मगन सेर चून की लगन में।
धना तो मगन धन दौलत गाडन पर,
कामी तो मगन मृगनयनी के बदन में।
सूरा तो मगन सूरताई से ही जूझन में,
कूडा तो मगन कूड़ताई के कथन में।

कोई तो काहू में मगन कोई काहू में मगन,
मुनिराज तो मगन वीतराग के भजन में ॥

धनवान् लोग धन में मस्त रहते हैं। धन के मद मे झूमते अकड़ते हुए चलते है। परन्तु धन क्या सदैव बना रहता है ? लक्ष्मी का नाम चंचला भी है। आज यहाँ तो कल वहाँ। यह उसका स्वभाव है। लक्ष्मी को दौलत भी कहते हैं। सचमुच उसमे दो लत अर्थात् आदतें हैं। आती है तो आदमी को पागल बना देती है और जाती है तो रुला देती है। जब लक्ष्मी आती है तो मनुष्य को सीधा कर देती है, अर्थात् मनुष्य छाती निकाल कर अकड के साथ चलता है, परन्तु जब चली जाती है तो कमर तोड़ कर जाती है। ऐसी स्थिति में लक्ष्मी का अभिमान करना वृथा है। शूर पुरुष शूरवीरता के कार्य में मग्न रहते हैं और झूठे लोग झूठ गढ़ने में। मगर मुनिराज तो वीतराग के भजन में ही लीन रहते है—दुनियादारी की बातों से उन्हें कोई सरोकार नही होता।

हाँ, तो गर्दभाली मुनि भगवान् के ध्यान मे लीन थे। उधर राजा संयती अपने दल-बल के साथ शिकार खेलने के लिए वन मे पहुँचा। उसने एक हिरण पर अपना बाण चलाया। बाण मृग के शरीर में बिंध गया। घायल मृग भागता-भागता मुनिराज के निकट पहुँचा। गिर पड़ा और मर गया।

मृग अपना बचाव करने के लिए भागा था। वह जिंदा रहना चाहता था। उसे अपने प्राण प्यारे थे। मृग की तरह सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं, मरना नही चाहते। कहा भी है :—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

भी कहा जा सकता है—साधु ईर्यासमिति से जीवों को मरने से बचाता हुआ चलता है। वे बचे हुए जीव आरभ समारंभ आदि पाप करते हैं। उनके सब पापों का भागी वह साधु होता है, जिसने उन्हें मरने से बचाया है। न साधु उन्हें बचाता और न वे पाप करते !

इस प्रकार जीव-रक्षा करने में पाप है, यह मत किसी भी प्रकार उपादेय नहीं हो सकता। कोई भी विवेकवान् व्यक्ति इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकता। बड़े ही खेद की बात है कि भगवान् महावीर के पावन नाम पर इस प्रकार का दया-विरोधी मत प्रचलित हुआ है।

भाइयो ! भगवान ने जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा रूप दया के लिए ही प्रवचन किया था। प्रश्न व्याकरण-सूत्र में, स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख मिलता है—'सव्व-जगजीव-रक्खणदयठयाए पावयण भगवया सुकहियं।' अतएव निश्चय समझो कि भगवान् महावीर की दया या अहिंसा लँगड़ी नहीं है। वह परिपूर्ण है। रक्षा करना परम धर्म है। इसके लिए शास्त्रों में अनेक दृष्टान्त भरे पड़े हैं।

एक बार गर्दभाली मुनिराज केसरी नामक वन में ध्यान में मग्न थे। मुनि तो योग में ही मस्त रहते हैं। कहा है—

राजा तो मगन राजकाज के सवाज पर,
रङ्क तो मगन सेर चून की लगन में।
धना तो मगन धन दौलत गाड़न पर,
कामी तो मगन मृगनयनी के बदन में।
सूरा तो मगन सूरताई से ही जूझन में,
कूड़ा तो मगन कूड़ताई के कथन में।

कोई तो काहू में मगन कोई काहू में मगन,
मुनिराज तो मगन वीतराग के भजन में ॥

धनवान् लोग धन में मस्त रहते हैं। धन के मद में झूमते अकड़ते हुए चलते है। परन्तु धन क्या सदैव बना रहता है? लक्ष्मी का नाम चंचला भी है। आज यहाँ तो कल वहाँ। यह उसका स्वभाव है। लक्ष्मी को दौलत भी कहते हैं। सचमुच उसमे दो लत अर्थात् आदते है। आती है तो आदमी को पागल बना देती है और जाती है तो रुला देती है। जब लक्ष्मी आती है तो मनुष्य को सीधा कर देती है, अर्थात् मनुष्य छाती निकाल कर अकड़ के साथ चलता है, परन्तु जब चली जाती है तो कमर तोड़ कर जाती है. ऐसी स्थिति मे लक्ष्मी का अभिमान करना वृथा है। शूर पुरुष शूरवीरता के कार्य में मग्न रहते हैं और झूठे लोग झूठ गढ़ने म। मगर मुनिराज तो वीतराग के भजन में ही लीन रहते हैं—दुनियादारी की बातो से उन्हे कोई सरोकार नही होता।

हाँ, तो गर्दभाली मुनि भगवान् के ध्यान में लीन थे। उधर राजा संयती अपने दल-बल के साथ शिकार खेलने के लिए वन मे पहुँचा। उसने एक हिरण पर अपना बाण चलाया। बाण मृग के शरीर मे विंध गया। घायल मृग भागता-भागता मुनिराज के निकट पहुँचा। गिर पड़ा और मर गया।

मृग अपना बचाव करने के लिए भागा था। वह जिंदा रहना चाहता था। उसे अपने प्राण प्यारे थे। मृग की तरह सभी जीव जीवित रहना चाहते है, मरना नही चाहते। कहा भी है :—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

वर्त्तन न होगा, तब तक मेरा उपदेश कारगर न होगा। मुनि ध्यान मे लीन रहे। मगर राजा ने उनकी उस ध्यान-निष्ठा को अपने प्रति अप्रसन्नता का प्रतीक समझा। अतएव वह अधिक विह्वल हो उठा। मुनि ने उसे अधिक भयभीत देख कर उसका भय दूर करने के लिए, अभयदान देते हुए कहा :—

अभयं पत्थिवा ! तुज्झं ।

अर्थात्—राजन् ! मै तुझे अभयदान देता हूँ।

साथ ही मुनि ने कहा —राजन् ! जैसे मैं तुम्हें अभयदान दे रहा हूँ। उसी प्रकार तुम भी दूसरे प्राणियों को अभयदान दो। जैसे तुम्हें अभय प्रिय है, उसी प्रकार इन मूक प्राणियों को भी अभय प्रिय है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'इस हाथ दे उस हाथ ले।' तू अभय देगा तो तुझे भी अभय की प्राप्ति होगी।

मुनि का समयोचित सभाषण सुन कर संयती उसी समय साधु बन गया।

इस कथा से स्पष्ट है कि दूसरे की रक्षा के लिए मुनि ने अपना ध्यान भी तोड़ा और राजा को भय मुक्त किया। इस कथा का फलितार्थ यह है कि कोई साधु ध्यान कर रहा हो। उस समय यदि कोई हिंसक जीव दूसरे प्राणी को मारता हो और वह दृश्य साधु की दृष्टि में आ जाय तो ध्यान खोल कर भी उस प्राणी की रक्षा करनी चाहिए। उस समय को चूक जाने से जीव-रक्षा नही हो सकती। हाथ से तीर छूटने से पहले ही उसे रोका जा सकता है। छूट जाने के बाद उसका रुकना असंभव है। मगर ध्यान के विषय में यह बात नही है। ध्यान

करने मे मुनि स्वाधीन है। जीव-रक्षा करने के पश्चात भी ध्यान किया जा सकता है।

जीव-रक्षा के विषय में जैन-धर्म की इतनी स्पष्ट आज्ञाएँ होने पर भी कुछ लोगों ने दया की एक टॉङ्ग टोड़ ही डाली है! उन्होने दया मे एकान्त पाप की कल्पना करके जैन-धर्म की उज्ज्वलता को कलंकित करने का प्रयत्न किया है। दुनिया का कोई भी धर्म दया का निषेध नही करता। योगशास्त्रकार कहते हैं :—

कृपाहीनोऽपि धर्मः स्यात् कष्टं नष्टं ह हा जगत् !

अर्थात्—जिस धर्म मे दया को स्थान नही है, उसे भी यदि धर्म मान लिया जाय तो अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि यह ससार नष्ट हो जायगा!

इस मार्मिक कथन मे गहरा तत्त्व समाया हुआ है। असल मे यह सारा ससार दया के बल पर ही टिका है। प्राणियो के अन्त करण मे निसर्गत दया का वास होता है। हम जिन जीवो को एकदम खूंख्वार, सर्वथा हिंसक और निर्दय कहते है, वास्तव मे उनके भी अन्तस्तल के किसी न किसी कोने मे दया देवी की सौम्य मूर्ति विराजमान होती है। ऐसा न होता तो इस पृथ्वीतल से उस जाति का अस्तित्व ही उठ जाता। सिंह और सिंहनी मे एकान्त क्रूरता ही होती और दया न होती तो वह अपनी सन्तति को जन्म लेते ही चट कर जाते। पर ऐसा नही होता, क्योंकि उनके अन्त करण मे भी अपनी संतान के प्रति दयाभाव है।

इसी प्रकार विचार करके यह भी समझा जा सकता है कि यदि संसार के समस्त प्राणी दयाविहीन हो जाएँ तो सबल

प्राणी निर्बलो को खा जायॅ और यह ससार क्षण भर मे नरक बन जाय। ठीक ही कहा गया है :—

माता दया हो तुझको प्रणाम,
तेरे बिना है जग मृत्यु-धाम।
तू ही बचाती अरु पालती है,
दुखी जनों के दुख टालती है।

ऐसी स्थिति मे आचार्य ने जो उक्त उद्गार प्रकट किया है, सो सर्वथा उचित ही है।

दया के विरोधी भाइयो का कहना है—जो करे वह भोगे। हमे बीच मे क्यों पड़ना चाहिए? मरने वाला अपना पहले चढ़ा कर्ज चुकता कर रहा है। हमे उसमे बाधक नहीं बनना चाहिए। हाँ, मारने वाला नवीन कर्ज चढ़ा रहा है। अतएव उसे समझा-बुझा कर हिसा के पाप से अटकाना चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय मरने वाले को बचाने की मन में भावना तक नहीं आनी चाहिए। कोई मरे तो मरे, हमारी बला से! वह अपना पूर्वकृत कर्म भोगता है। हम बीच मे पड़ कर क्यों उसके असंयम-जीवन का रक्षण करे! असंयमी के जीवन की रक्षा करना पाप है। असंयमी जीव बच जायगा तो पाप करेगा और उसके पापो से बचाने वाले को भी पापी बनना पड़ेगा। वह बचाने वाले की बदौलत ही बचा है, अतएव बचाने वाले को अनुमोदना का पाप लगेगा। 'तीजे करणे हिंसा लागी रे"

ऐसा कहने वालों से हम पूछना चाहते हैं कि तुम्हे किस दिव्य ज्ञान से मालूम हो गया कि कसाई के द्वारा मारा जाने वाला बकरा अपना पुराना ऋण चुका रहा है? वह ऋण चुका रहा है अथवा नया ऋण चढ़ा रहा है, यह तो उसकी

आत्मा से पूछो। क्या वह गजसुकुमार की तरह समभाव से मृत्यु का स्वागत कर रहा है, जिससे कर्ज चुकाने की बात कहते हो? बाह्य लक्षणो से तो ऐसा नही जान पड़ता। बकरा चिल्लाता है, मिमियाता है, फड़फड़ाता है, दीनतापूर्ण स्वर से और अग-अंग से आर्त्तध्यान को प्रकट करता है। क्या आर्त्त-ध्यान की अवस्था में समभाव होता है? बचाने वाला उसके आर्त्तध्यान को दूर करके नवीन ऋण को बढ़ाने से बचाता है।

'बम्बई समाचार' मे प्रकाशित प्रश्नोत्तरों में एक उत्तर यह है कि—'हम राग-द्वेप-मोह-रहित दया-दान को आत्मधर्म मानते है।' राग, द्वेप और मोह से रहित दया उच्चकोटि की है, इसमे दो मत नही हैं। परन्तु देखना तो यह है कि राग, द्वेप और मोह से रहित अवस्था कब प्राप्त होती है? ग्यारहवे गुणस्थान में अल्पकाल के लिए और बारहवे तथा उससे ऊपर के गुण-स्थानों मे स्थायीरूप से यह अवस्था प्राप्त होती है। क्या जब तक इन गुणस्थानो मे न पहुँच जाएँ तब तक दया नही करनी चाहिए? अनुकम्पा सम्यकत्व का लक्षण है। चतुर्थ गुणस्थान-वर्त्ती सम्यग्दृष्टि जीव अनुकम्पावान् होता है। अनुकम्पा के बिना कोई भी जीव धर्म के सन्मुख नहीं हो सकता।

जब किसी दीन-दुखी जीव की रक्षा की जाती है तब कौन-सा मोह होता है? क्या वह जीव, जिसकी रक्षा की जाती है, हमारा कोई सम्बन्धी होता है? अनुकम्पा से प्रेरित होकर, शुभ भाव से उसकी रक्षा या किसी प्रकार की सहायता की जाती है। उसमे तो उलटा मोह का त्याग करना पडता है। ऐसी स्थिति मे अनुकम्पा को पाप कहने से बढ कर और क्या पाप हो सकता है?

इसी प्रकार दान के विषय में यह कहना कि साधु के सिवाय किसी भी असंयमी को देना पाप है, मिथ्या प्ररूपणा है।

भद्र पुरुषो ! तीर्थङ्करों की ऐसी प्ररूपणा नहीं है। उनकी दया परिपूर्ण है। विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। धर्म-पूर्ण अहिंसा रूप है। धर्म सुख का परम साधन है। किन्तु मिथ्यामति के कारण वह विकृत बन जाता है। इसीलिए जगत् मे धर्म के नाम पर अनेक अनर्थ हुए है। जिन लोगों को अपना खोटा सिक्का चलाना होता है, वे बहुत प्रौपेगेंडा और प्रचार करते है। कोई दूसरा मुलाकात या प्रश्न करने के लिए न आने तो अपने आप ही प्रश्न और उत्तर गढ़ लेते हैं और अखबारों मे छपाते है।

भगवान् का उपदेश स्पष्ट होता है। उसमे कोई आंटीघूंटी नहीं होती। तीर्थङ्कर देव का उपदेश भौतिक सुखो को त्याग कर आध्यात्मिक सुख को अपनाने के लिए होता है।

पाँच इन्द्रियो के विषयों मे सच्चा सुख नहीं है, सुखाभास है। यह सुखाभास भी अल्प, अल्पकालीन, पराश्रित और आगामी दुःखो का कारण है। सच्चा सुख आत्मा मे है। वह आत्मा का ही गुण है, जो अनन्त सन्तोष, क्षमा, दया आदि रूप होता है।

भगवान् का उपदेश सुन कर कई लोग कहते हैं—हम अधन्य है जो आपके उपदेशों को पूर्ण रूप से नही अपना सकते। ऐसे लोग देशव्रत-श्रावक धर्म—अङ्गीकार करते हैं और धीरे-धीरे अपनी क्षमता की वृद्धि करते हुए आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं।

परन्तु अनेक व्यक्ति, जो साहसी होते हैं, तीर्थङ्कर का प्रवचन सुन कर वैपयिक सुखों को सर्वथा तिलांजलि दे देते हैं और महाव्रतो को—साधुधर्म को अंगीकार कर लेते है। वे पौद्गलिक सुखों को दु खमय समझ कर शाश्वत मुक्तिसुख की साधना मे लग जाते है।

अभिप्राय यह है कि सब जीव सुख चाहते हैं और सुख के लिए ही निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। मगर क्यों? इस क्यो का उत्तर अभी शेष है, जो यथावसर दिया जायगा। आज तो इतना ही समझना चाहिए कि दया का निषेध करके अथवा दया का त्याग करके कोई सुखी नही बन सकता। यह तो सुख से वचित होने का मार्ग है। प्रवचन-समाप्ति के पश्चात् आप लोग बोलते हैं —

दया सुखांरी बेलडी, दया सुखांरी खाण।
अनन्त जीव मुगते गया, दया तणा फल जाण॥

इस कथन में प्रवचन का सार समाया हुआ है। वास्तव मे दया ही वह वेल है जिसमे सुखो के सुगन्धित एवं मनोहर पुष्प, उगते खिलते और शोभायमान होते हैं। दया ही समस्त सुखो की खान है—उत्पत्तिस्थान है। दया के पुण्य-प्रताप से ही अनन्त जीवो ने मुक्ति प्राप्त की है।

जो लोग दया मे पाप बतलाते हैं, वे सुख के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं और दु:खो के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। अगर आप लोगो को सच्चे सुख की कामना है तो सुख के मार्ग पर चलना चाहिए। सुख का मार्ग भूतदया ही है।

सुख के विपय मे विशेप प्रकाश यथावसर डाला जाएगा, बोलिये, भगवान् महावीर की जय!

राजकोट
२३-७-५४

: ६ :

सुख का आकर्षण

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

उपस्थित भव्य आत्माओ !

अरिहन्त भगवान् की स्तुति बोली गई । प्रश्न हो सकता है कि स्तुति क्यो बोली जाती है ? उत्तर स्पष्ट है—सुख की प्राप्ति के लिए । अरिहन्त भगवान् सुख के सागर हैं, सुख की निधि हैं, सुखो के पुंज हैं, बल्कि कहना चाहिए कि वे सुखमय स्वरूप को प्राप्त हैं । अनन्त, असीम, अक्षय, अव्याबाध आत्मिक आनन्द उनकी आत्मा मे आविर्भूत हो गया है । उनकी स्तुति और भक्ति करने से हमे भी सुख की प्राप्ति हो सकती है । अर्हन्तदेव की श्रद्धापूर्वक स्तुति करने से पापो का विनाश होता है और पुण्य का प्रचय होता है । पुण्य ही सब सुखो का कारण है । अतएव सुखार्थी जीवों को वीतराग भगवान् की स्तुति एवं भक्ति करनी चाहिए ।

यह बात सर्वविदित है कि जिसके पास जो होता है, वही उससे मिल सकता है । अरिहन्त भगवान् स्वयं सुख को प्राप्त हैं, अत. दूसरो को भी सुख प्रदान कर सकते है । किसी धन-वान् पुरुप की आन्तरिक भावना के साथ सेवा की जाय, उसकी आज्ञाओ का पालन किया जाय, उसकी चाकरी की

जाय, तो प्रसन्न होकर वह अपने सेवक को धन प्रदान करता है। ज्ञानवान् की सेवा करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। तो भला अरिहन्त भगवान् की हृदय से प्रार्थना, स्तुति, आराधना, गुणानुवाद, गुणकीर्त्तन, आज्ञापालन आदि करने से सुख का लाभ क्यो न होगा? अवश्य होगा।

सभी जीवात्माओ को सुख की ही तो कामना है। सुख की ही आवश्यकता है। आप श्रावक लोग सामायिक, पौषध आदि धर्मक्रिया करते है और साधु संयम का पालन करते हैं, उसका एक मात्र-उद्देश्य सुख को प्राप्त करना ही है। यह व्याख्या देना और श्रवण करना भी सुख के लिए ही है। इस सम्बन्ध मे बहुत-सी बाते कही गई है और बहुत-सी कही जा सकती हैं, परन्तु मै चाहता हूँ कि आज इस विषय का निर्णय दे दिया जाय।

प्राणी-मात्र मे सुख के प्रति इतनी लगन क्यो है? इस रहस्य को आज प्रकट करना है। जिस रहस्य को जानने के लिए आप कई दिनो से मुंतजिर है, इच्छुक हैं, उत्सुक है, उसे आज खोल देना है। आज उस 'क्यो' का स्पष्टीकरण करना है, जो सुख के आगे लगा हुआ है। प्रत्येक जीव सुख-प्राप्ति के लिए क्यो चेष्टा कर रहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सुख जीव का निज गुण है। यही उस 'क्यो' का समाधान है।

सुख आत्मा की अपनी निधि है। आत्मा का आत्मीय भाव है। इसी कारण सुख के प्रति आत्मा का इतना आकर्षण है। पानी का स्वभाव नीचे की तरफ जाने का है। अग्नि की शिखा का स्वभाव ऊपर की ओर जाने का है। वायु स्वभाव से तिर्छी जाती है। इसी प्रकार आत्मा भी निसर्गतः

अपने गुणो की ओर प्रेरित होती है। आत्मा का स्वभाव अपने निज गुण सुख की तरफ गति करने का है। जिसकी जो वस्तु होती है, उसकी ओर उसका आकर्पण होना स्वाभाविक है।

कल्पना कीजिए, आपका प्रिय पुत्र कहीं पर दूसरे अनेक बालको के साथ खेल रहा है। आप अपने साथियों के साथ उधर जा निकलते हैं। आपकी दृष्टि दूसरे बालको पर भी पड़ती है और अपने बालक पर भी। यह भी मान लीजिए कि दूसरे बालक आपके बालक से कम सुन्दर नहीं हैं, बल्कि कोई-कोई अधिक सुन्दर है। तब भी आपका आकर्पण किसकी ओर होगा? आप अपने ही पुत्र की ओर अधिक आकर्पित होंगे। इसी-प्रकार आपके बालक का आपके साथियो की तरफ आकर्पण न होकर आपकी तरफ ही आकर्पण होगा। दोनो एक दूसरे को देखकर जैसे निहाल हो जाएँगे। क्या आपने सोचा है कि ऐसा क्यो होता है? बालक-बालक मे कोई अन्तर नही है। फिर भी एक बालक के प्रति घनिष्ट अनुराग और दूसरे बालको के प्रति विराग या अननुराग होने का क्या कारण है? कारण यही है कि जिसे आप अपना पुत्र कहते हैं, उसे आपने अपनापन समर्पित कर रक्खा है। पुत्र ने भी आपको आत्मीयता प्रदान कर रक्खी है। दोनों ने एक दूसरे को ममता के बंधनो से बाँध रक्खा है। राग-रज्जु से दोनों एक दूसरे के साथ बधे हुए हैं। 'जो जिसे अपना मान लेता है, उसके प्रति उसकी प्रेमभरी लगन उत्पन्न हो जाती है।

आपका पुत्र भले कुरूप हो, दुर्गुणी हो, व्यसनी हो, फिर भी उसके प्रति आपके मन मे ममत्व का भाव रहता है। पड़ोसी का पुत्र गुणवान् और स्वरूपवान हो तो भी उसके प्रति

उतना आकर्षण नही होता । इसका एक-मात्र कारण ममताभाव है, पिता-पुत्र का संबंध है ।

पिता-पुत्र का सवध सांयोगिक है । कर्मों के संयोग से एक पिता के रूप मे और दूसरा पुत्र के रूप मे जीवन व्यतीत करता है । कभी पिता, पुत्र के रूप मे उत्पन्न होता है तो कभी पुत्र, पिता के रूप मे । यह सब सदा बदलने वाले पर्याय है । कर्म परिवर्त्तन-शील हैं, अत कर्मजनित सबंध भी परिवर्त्तनशील हैं । ससार के सब प्राणियो ने, सब प्राणियों के साथ, सर्वप्रकार के संवध एक वार नही, अनेक वार जोड़े हैं । एक भव मे जो जीव माता के रूप मे है, वही दूसरे भव में पिता या पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण कर लेता है । उसी जीव की माता उसी की बेटी रूप से भी जन्म ले सकती है । कहा है —

है असार संसार न करना पल भर राग सयाने,
यहाँ जीव ने अव तक पहने हैं कितने ही वाने ।
सव जीवों से सव जीवों के सब संवध हुए हैं,
लोक-प्रदेश असख्य जीव ने अगणित वार छुए हैं ।

× × × ×

एक जन्म की पुत्री मर कर है पत्नी बन जाती,
फिर आगामी भव में माता वन कर पैर पुजाती ।
पिता पुत्र के रूप जन्मता, वैरी वनता भाई.
पुत्र त्याग कर देह कभी वन जाता सगा जमाई ।

इस प्रकार सांसारिक सम्बन्ध चक्र की नेमि की तरह निरंतर बदलते रहते हैं । कभी नाव गाड़ी पर और कभी गाड़ी नाव पर होती है । जब गाड़ी चलते-चलते नदी के किनारे पहुँचती है

और नदी पार करना होता है, तब गाड़ी को नाव मे लाद कर उस पार पहुँचाया जाता है। पर कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि नाव टूट जाती है या उसमे कुछ खराबी हो जाती है। तब उसे गाडी पर लादकर स्थानान्तरित किया जाता है। इसी प्रकार कर्मोदयजनित पिता-पुत्र, माता-पिता, भाई-बहिन, सासू ससुर, पति पत्नी आदि समस्त सबध बदलते रहते है।

जब कर्मोदयजनित क्षणभगुर सम्बन्ध भी इतने आकर्षक होते है और लोग उसमे सुख का अनुभव करते हैं, तो फिर आत्मिक सुख के लिए आत्मा का आकर्षण होना स्वाभाविक ही है।

संसार के समस्त सबध अस्थायी है। बनते हैं और विगड़ते हैं। जो उगता है वह अस्त भी होता है। जो जन्मता है वह मरता है। जो खिलता है वह कुम्हलाता ह।

संयोगज संबध को सदा कायम रखने की किसी मे शक्ति नहीं है। किसी पिता के एकलौता पुत्र हो और वह बीमार पड़ गया हो। उसका आयुकर्म पूरा हो गया हो। ऐसी स्थिति में क्या किसी डाक्टर की ताकत है जो पिता-पुत्र के सम्बन्ध को कायम रख सके। कहावत प्रसिद्ध है—'टूटी की बूटी नही है।' टूटे आयुष्य को जोड़ने की दवा धन्वन्तरि के पास नही है। होती तो धन्वन्तरि इस धरा पर ही मौजूद होते। जगत् मे एक से एक बढ़ कर वैद्य, हकीम और डाक्टर हो गए। मगर काल मात मे सभी को काल के गाल मे समा जाना पड़ा! कपड़ा साँधा जा सकता है, मकान मे ईंट जोड़ी जा सकती है, परन्तु आयु मे कारी नहीं लगाई जा सकती। वह तो अवश्य ही टूटती है।

भरतखण्ड के अधिपति चक्री कितने भू पर आये,
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाये।

प्रबल शक्ति-सम्पन्न सैन्य उनका-सा और कहाँ है ?
किन्तु धरातल पर क्या उनका नाम-निशान रहा है ?

× × × ×

अम्बर में, पाताल-लोक में, या समुद्र गहरे में,
इंद्र-भवन में, शैलगुफा में, सेना के पहरे में।
वज्र-विनिर्मित गढ में या अन्यत्र कही छिप जाना,
पर भाई ! यम के फदे में अन्त पडेगा आना।

यह संसार का कटुक सत्य है। चाहे किसी को भला लगे या बुरा लगे, मगर सत्य तो सत्य ही रहेगा।

जीव दो प्रकार के हैं—सोपक्रम आयु वाले और निरूपक्रम आयु वाले। जो आयु अग्नि-शस्त्र आदि किसी निमित्त से टूट जाती है, वह सोपक्रम कहलाती है और जो आयु बीच में नही टूट सकती, वह निरूपक्रम है। आयु घट सकती है, अर्थात् लम्बे समय मे भोगने योग्य आयु जल्दी भोगी जा सकती है, किन्तु बढ़ नही सकती।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, नारक, देव, पाँच सूक्ष्म स्थावर और असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यञ्च युगलिया निरुपक्रम आयु वाले होते हैं।

शङ्का हो सकती है कि प्रति वासुदेव को वासुदेव मारते हैं। फिर वे निरूपक्रम आयु वाले कैसे कहलाए ? इस शङ्का का समाधान यह है कि जब उनका आयुष्य पूरा होने आता है, तभी वासुदेव उन्हें मारने मे निमित्त बनते हैं। अतएव हमारी दृष्टि में उपक्रम प्रतीत होने लगता है, किन्तु वास्तव में वह निरुपक्रम आयु वाले ही होते हैं। वासुदेव श्रीकृष्ण कुसुम्बी वन मे जरत् कुमार के बाण से मारे गए। पानी पीने की इच्छा मन की मन

मे ही रह गई। मगर जरत्कुमार तो निमित्त-मात्र था। उनकी आयु पूर्ण हो चुकी थी।

सभी को एक न एक दिन यमराज का अतिथि बनना पड़ता है। चाहे कोई सोपक्रम आयु वाला हो या निरुपक्रम आयु वाला हो।

कुछ गुल तो दिखला के बहार अपनी हैं जाते।
कुछ सूख के कांटों की तरह हैं नजर आते॥
कुछ गुल हैं कि फूले नहीं जामे में समाते।
कुछ गुल ऐसे हैं जो खिलने भी नही पाते॥

कुछ लोग ससार मे आकर अपने कर्त्तव्यो से दूसरो को प्रसन्न करके मरते हैं। कुछ लोग अपने कृत्यो से दीन-हीन दशा मे जीवन गुजारकर चल बसते है। कुछ लोग अभिमान मे मस्त रहते हैं, परन्तु आयु पूरी होने पर दीनतापूर्वक मौत के मुह मे चले जाते हैं। कुछ ऐसे भी है जो बचपन में ही जीवन लीला समाप्त कर देते हैं! आयु पूर्ण होने पर ससार की कोई भी शक्ति मौत मे नहीं बचा सकती।

फूलों को ही देखिए न, कुछ तो उद्यान की शोभा बढ़ाते हैं और कुछ काँटो की तरह सूखे हुए रहते हैं। उन पर जब सर्दी-गर्मी का असर होता है, तब वे कुम्हला जाते है। गर्मी की अपेक्षा सर्दी का असर तीव्र होता है। डाक्टरो का कहना है कि किसी व्यक्ति को लू लग जाय या गर्मी के कारण और कोई बीमारी हो जाय तो वह जल्दी मिटाई जा सकती है। परन्तु सर्दी के कारण दुहरा (डबल) निमोनिया हो जाय तो उसके इलाज में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई होती है। गर्मी के तत्त्वो की अपेक्षा सर्दी के पुद्गलों का प्रभाव बहुत अधिक होता है। पौष या माघ के महीने म जब दाह-हिम

पडता है तब वनस्पति को भस्म कर देता है। गर्मी से तो वृक्ष धीरे-धीरे सूखते है परन्तु दाह पड़ने से एक ही रात्रि मे सारा वन भस्म हो जाता है। लहलहाते वृक्ष सूख कर ठूठ बन जाते हैं। नरक मे देखिए, प्रथम के तीन नरको मे उष्ण-वेदना होती है और आगे के चार नरको में शीत-वेदना होती है। इस प्रकार उष्ण-वेदना की अपेक्षा शीत-वेदना अधिक घातक सिद्ध होती है।

राग और द्वेष के समान शीत और उष्णता के पुद्गल हैं। राग के पुद्गल शीत है और द्वेष के उष्ण। क्रोध की अपेक्षा लोभ से अधिक हानि होती है। क्रोध थोड़ी देर ठहरता है पर लोभ स्थायी रूप से भी बना रहता है। भगवान् के लिए वीतराग विशेषण का प्रयोग किया जाता है, वीतद्वेष कोई नही कहता। इस प्रकार रहस्य यही है कि द्वेष की अपेक्षा राग अधिक घातक होता है। श्रीठाणांगसूत्र के चौथे ठाणे मे बतलाया गया है कि जहाँ राग है वहाँ माया और लोभ है तथा जहाँ द्वेष है वहाँ क्रोध और मान है। जब वोट देने का प्रसङ्ग आता है तो लोभ और माया रागचदजी को अपना वोट देते हैं; क्रोध और मान द्वेष-चदजी को। मोक्ष का साधक अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा जब मोह रूपी राजा को परास्त करने के लिए प्रचड पराक्रम करता है तो क्रोध और मान पहले नष्ट होते है, माया और लोभ उनके बाद। माया और लोभ में भी लोभ ही अन्त तक जूझता रहता है। दसवें गुण-स्थान तक भी वह आत्मा का पिंड नही छोड़ता। वहाँ भी सूक्ष्म संज्वलन लोभ बना रहता है। इसी से राग की प्रचण्डता का पता चल जाता है।

राग क्या है? अनात्मभूत वस्तुओं के प्रति अर्थात् पर

पदार्थों के प्रति जो आकर्षण है, वही राग कहलाता है। भौतिक पदार्थों की वांच्छा से प्रेरित जो आकर्षण अन्त करण मे उत्पन्न होता है, वह राग है। आत्मिक गुणो मे आकर्षित होकर किसी की ओर झुकना राग नही कहलाता। वह विशुद्ध प्रेम है और वीतराग का जनक है।

राग होने पर ही लोभ होता है और लोभ की वासना को चरितार्थ करने के लिए माया भगवती का आश्रय लेना पड़ता है। जब सीधी उगली से घी नहीं निकलता तो लोग टेढ़ी उंगली से निकाला करते है। अर्थात् छल-कपट करके, धोखा देकर अपनी लोभवृत्ति को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं।

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं।

अर्थात् राग और द्वेष—दोनो ही कर्म के बीज हैं। जन्म-मरण रूप ससार के यही मूल कारण है। संसार—विष-वृक्ष इन्हीं के सिंचन से वृद्धि पाता है। राग और द्वेष के चक्कर मे पड़ा हुआ यह जीव नाना प्रकार की पीड़ाओं का पात्र बनता है, फिर भी उनका त्याग करने के लिए उद्यम नहीं करता। ठीक ही कहा है :—

राग द्वेष वशीभूतो, जीवोऽनर्थपरम्पराम्।
कृत्वा निरर्थक जन्म, गमयाति यथा यथा॥

अर्थात्—राग और द्वेष के वशीभूत होकर संसारी जीव ने अनर्थों की परम्परा प्राप्त की है। अनादिकाल से लेकर आज तक अनन्त-अनन्त बार जो जन्म, जरा और मरण आदि के असीम दुःख सहने पड़े है, उनका प्रधान कारण राग-द्वेष ही है। इन दोनों की बदौलत मनुष्य जैसा उत्कृष्ट जन्म भी व्यर्थ

बर्बाद हो जाता है। इसी कारण साधनाशील सन्त पुरुष अपने अन्त.करण को इस प्रकार समझाते है .—

रे रे चित्त कथं भ्रातः, प्रधावसि पिशाचवत् ।
अभिन्नं पश्य चात्मानं, रागत्यागात्सुखी भव ॥

अरे भाई चित्त ! तुम क्यों पिशाच की भाँति इधर-उधर भाग-दौड मचाते हो ! एक जगह स्थिर होकर क्यो नहीं ठहरते ? अपने आत्म-स्वरूप को अभिन्न रूप मे देखो और राग का त्याग करके सुखी होओ।

वास्तव मे राग का त्याग ही परम-सुख का राज-मार्ग है। भाग के कारण अनात्मभूत पदार्थों के साथ ममता का सबंध स्थापित किया जाता है। वह सबंध कल्पित है, अत स्थायी नही रह सकता। जब वह नष्ट होता है तो जीव व्याकुलता का अनुभव करता है, संताप से जलने लगता है और आर्त्तध्यान करता है। जिस निमित्त से वह विनाशशील संबध नष्ट होता है, उसके प्रति द्वेष-भाव धारण करता है। इस प्रकार राग अनेक दोपो का जनक है। राग का त्याग कर दिया जाय तो द्वेप स्वत नष्ट हो जाता है और उस दशा मे आत्मा स्वच्छ, शान्त, सन्तुष्ट, सुखमय और स्वस्थ हो जाता है। कहा है .—

(१) किमथ परम दु ख ? सस्पृहत्व यदेतत ।
(२) किमिह परम-सौख्य ? निःस्पृहत्वं यदेतत्,

प्रश्न किया गया—इस ससार मे बड़े से बड़ा दु ख क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है—यह जो स्पृहाएं – इच्छाएँ —कामनाएँ है या राग है, वही परम दु ख का कारण है। दुबारा पूछा गया—अच्छा, परम सुख क्या है ? उत्तर है—निःस्पृहता, कामनाओ का त्याग, ममता का परिहार अथवा राग से दूर होना।

प्रश्न किया जा सकता है कि अनादि काल से आत्मा को अपने चंगुल मे फँसाने वाले राग-द्वेष को किस प्रकार जीता जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि मनोज्ञ वस्तु पर राग होता है और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष होता है। माता को अपना लूला लँगड़ा और नकटा लड़का भी भला लगता है और पडौसी का सुन्दर पुत्र भी नही रुचता। यह पुत्र के प्रति राग-भाव की अधिकता है। किसी वस्तु के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष के भाव को धारण करने वाला मन है। अगर मन को जीत लिया जाय तो सब को जीत लिया समझो। शास्त्र में भी कहा है —

एगे जिये जिया पंच।

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँचो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है।

तो राग और द्वेष को जीतने का उपाय मनो-विजय है। मगर मन को जीतना हँसी-खेल नहीं—

है नहीं मुश्किल जीतना दस लाख सुभटों का।
है आफरीं उसकी जिसने कि अपना मन जीता ॥

वासुदेव दस लाख योद्धाओं को जीत सकते हैं, परन्तु अपने मन को नहीं जीत सकते। अतएव दस लाख सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक मन को जीतने वाला विशेष गौरवशाली है, महान् है, प्रशस्त है और धन्य है।

श्री स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के शूर बतलाये गये हैं—

(१) दानशूर (२) तपशूर (३) क्षमाशूर और (४) युद्धशूर।

'दाने शूरा वैश्रमण देवा.' अर्थात् दान देने में वैश्रमण देव शूर गिने जाते है। जब तीर्थंकरों का जन्म होता है तो भंडार भर देते हैं।

तपशूर मुनिवर होते है। अनगार—जिन्होने घर-द्वार त्याग दिया है, वे तपस्या करने मे वीर होते हैं। संवत् १९८० की बात है। आचार्य श्रीजवाहरलालजो महाराज का चतुर्मास भीनासर (बीकानेर) मे था। उस समय उनके अन्तेवासी मुनिकेसरी श्री केसरीमलजी म० ने ६५ दिनो के उपवास गर्म पानी के आधार पर किए थे। उस वर्ष मेरा चातुर्मास हांसी मे था। उपवास के-पूर के अवसर पर कान्फरेंस का इजलास भी बीकानेर मे ही था, जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय वाडीलाल मोतीलाल शाह थे। इस घटना का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि इस गये-गुजरे जमाने में भी मुनिराज तपस्या मे अपनी शूर-वीरता प्रदर्शित करते रहते हैं। हमारे मुनिराज आज भी जितनी बडी-बडी तपस्याएँ करते हैं, वह समग्र विश्व मे अद्वितीय चीज है। इस तपस्या का मुकाबिला कोई नही कर सकता।

क्षमा-शूर अरिहन्त हैं। चौबीसवे तीर्थंकर त्रिजगत् वन्दन त्रिशलानन्दन की क्षमा देखिए। तेईस तीर्थंकरो के कर्म एक तरफ और उनके अकेले के कर्म एक तरफ! इतने विशाल और सघन कर्म पटल को उन महा-श्रमण महावीर ने किस वीरता के साथ नष्ट किया। चण्डकौशिक सर्प के समक्ष उन्होंने कितनी क्षमा और कितना धैर्य रक्खा! पैरो पर खीर पकाने वाले गुवाल पर कितना साम्यभाव! जिन घटनाओ का उल्लेख और स्मरण करने मात्र से हृदय थर्रा उठता है, शरीर मे रोमांच हो आता है और वदन मे कॅपकपी छूटने लगती है, उनमे उस महा-प्रभु ने अद्भुत धैर्य, असाधारण वीर्य, अनुपम शौर्य, विस्मय-जनक सहनशीलता और अप्रतिम समता प्रदर्शित की। विश्व के इतिहास मे अनेक महा-मानव इस महिमामयी मेदिनी को

मण्डित करने के लिए अवतरित हुए है, मगर महावीर के समान महर्षि, महाप्राण महात्मा स्मृति-पथ में नही आता। महावीर की जीवनी पर दृष्टिपात करते ही अनायास मुख से निकल पडता है—ऐ महावीर! तू सच्चा महावीर था! तेरा स्मरण युग युग तक मुमुक्षुओ के समक्ष एक स्पृहणीय आदर्श खड़ा करता रहेगा। तेरी जीवनी कायरो की नसो मे भी उत्साह की बिजली भरती रहेगी। तेरे चरण-चिह्नों पर चलने वाले चिरकाल तक मङ्गल-साधना मे सफलता प्राप्त करते रहेगे। हे अद्वितीय योगी, समता के सागर, तेरा पावन स्मरण पातकी जनो की अन्तरात्मा को भी परमपूत बनायेगा।

युद्धशूर वासुदेव होते है। यद्यपि वासुदेव की अपेक्षा चक्रवर्त्ती मे दुगुना बल होता है, तथापि चक्रवर्त्ती युद्धशूर नही माने गये। इसका कारण यह है कि चक्रवर्ती स्वयं युद्ध में विशेष भाग नही लेते। प्रथम तो उन्हे प्राय युद्ध ही नहीं करना पडता। धाक से ही काम चल जाता है। युद्ध की आवश्यकता हुई तो सेनापति ही अधिक भाग लेता है। मगर वासुदेव स्वयं रण-क्षेत्र मे उपस्थित होकर शत्रु-सेना में कुहराम मचाते है।

किन्तु वासुदेव कितने ही बड़े युद्धवीर क्यों न हो, परन्तु मनोविजयी शूरवीर की समानता वे भी नहीं कर सकते। मनोविजेता वीर विरले ही होते है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन अत्यन्त साहसी और भीम है। वह अत्यन्त चपल है और हठी है। वह अपने को जीतने का प्रयास करने वाले साधक को मूढ़ बना कर अपना दास बना लेता है। फिर भी उसका जीतना असम्भव नहीं है। दृढ़तापूर्वक, सावधानी के साथ यदि उद्योग किया जाय तो मन को जीत लेना सम्भव है।

ऐसा न होता तो मन को जीतने का शास्त्रकार उपदेश ही न करते। और जब मन को जीत लिया जाता है तो राग द्वेष को भी जीता जा सकता है और सुख प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तव में मन को जीतना बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। साधक जन कहते है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमी क्षणार्धेन, नयेन्न मोक्षमेव च॥

अर्थात्—वीतराग भगवान् के मत मे मनोयोग अत्यन्त बलवान् कहा गया है, इतना बलवान् कि आधे क्षण मे सातवें नरक मे भी ले जा सकता है अथवा मोक्ष मे भी पहुँचा सकता है।

जिस मन की इतनी महिमा है, उसके जीत लेने के महत्त्व को समझ लेना कठिन नही है। मन पर काबू पा लिया जाय तो वह चिन्तामणि से भी अधिक उपयोगी और लाभदायक सिद्ध होता है। अगर मन को अपने ऊपर काबू करने दिया गया तो वह घोर से घोर अनर्थों का कारण बन जाता है। अतएव प्रत्येक आत्महितैषी को मनोविजय के लिए यत्नशील होना चाहिए।

मन लोभी मन लालची, मन कपटी मन चोर।
मन के मते न चालिए, मन पल-पल मे और॥
काया मन्दिर मन ध्वजा, विषय लहर फहराय।
ज्यों मन त्यो काया डिगे, जड़ा मूल से जाय॥

भाइयो ! मन बडा कुटिल है। इसकी तरङ्गो पर नही बहना चाहिए। यह क्षण-क्षण मे पलटता रहता है। काया यदि

मन्दिर है तो मन उस पर फहराने वाली ध्वजा है। जैसे-जैसे मन चंचल होता है, वैसे-वैसे अगर काया भी फरफराने लगेगी तो जड़-मूल से उखड़ कर गिर पड़ेगी। अतएव मन की चंचलता अगर नही रुक सकती तो भी अपनी काया को स्थिर अवश्य रक्खो—

मन गया तो जाने दो, वश कर राख शरीर।
खींचे बिना कमान के, कैसे लागे तीर॥

कमान खींचे बिना तीर नही छूटता। काया को वश में कर रखने से मन इधर-उधर धक्के खाकर ठिकाने आ जाएगा।

बाई जी रूँस कर पीहर गई। पीहर वाले उन्हें मुँह न लगावे तो वापिस अपने घर आ जाती हैं। काया का साथ जोड़े बिना मन हार खा जाता है और काबू मे आ जाता है।

भौतिक विषयो मे, पुद्गल-जन्य सुखों मे मन की दौड़ है, आकर्षण है। सांयोगिक सुखों मे भी आकर्षण है। तो फिर आत्मिक सुख में आत्मा का आकर्षण हो, यह स्वाभाविक ही है। इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है।

सुख और आत्मा का तादात्म्य संबंध है। जो वह है सो वह है और वह है सो वह है, अर्थात् सुख आत्मा है और आत्मा सुख है। दोनों एक दूसरे से उसी प्रकार विलग नहीं हैं जैसे मिश्री और मिठास। मिश्री से मिठास कदापि अलग नहीं हो सकती। जिससे मिठास अलग हो जाय वह मिश्री ही नही कहला सकती।

दूसरा उदाहरण लीजिए। अग्नि मे उष्णता और पानी में शीतलता गुण है। यह उष्णता और शीतलता अग्नि और

पानी में तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित है। अग्नि और उष्णता को कोई भी जुदा नहीं कर सकता। पानी में से शीतलता को अलहदा नहीं किया जा सकता। भले ही अग्नि का सयोग पाकर पानी गरम हो जाता है, फिर भी अपने गुण—शीतलता का परित्याग नहीं करता। पानी कितना भी गरम हो, चाहे उबल ही क्यों न रहा हो, फिर भी वह आग को बुझा देता है। अपना सहज स्वभाव वह नहीं छोड़ता। पानी में जो गर्मी प्रतीत होती है, वह स्वाभाविक नहीं, वैभाविक है, औपाधिक है, अग्निजन्य है। इसी प्रकार आत्मा में क्रोधाधिक भाव स्वाभाविक नहीं, कर्मजनित हैं। आत्मा का स्वाभाविक भाव तो आनन्दरूप है, चेतनामय है। आत्मा स्वभाव से शीतल है। अगर वह गरम होता है तो कर्म के कारण, जो कि पर वस्तु है :—

अति शीतलता क्या करे, दुश्मन केडे लाग।
घिसतां घिसतां नीकले, चन्दन में से आग॥

घिसते घिसते चन्दन में से भी आग निकल आती है। चन्दन स्वभाव से शीतल है। तपस्या के समय चन्दन लगाया जाता है।

देखना है यहाँ कौन-कौन तपस्या करेंगे! तपस्या रूपी युद्ध में कौन-कौन शूरमा भाग लेंगे। इस समय आज की दुनियाँ के किसी भी कोने में युद्ध नहीं है, मगर हमारा युद्ध चालू होने वाला है। रूस अथवा अमेरिका के साथ नहीं, हमें अपने कर्मों के साथ लड़ना है। आत्मा में उत्पन्न हुए विकारों के साथ लड़ना है। अपनी दुर्बलताओं के साथ लड़ना है। भगवान महावीर हमें इसी युद्ध की शिक्षा दे गये है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।

अर्थात्‌–हे साधक ! तुझे अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए। आत्मिक युद्ध ही कल्याणकारी युद्ध है। बाह्य-युद्ध से क्या लाभ है ?

भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए जो युद्ध किया जाता है एक राजा दूसरे राजा के विरुद्ध अथवा एक देश दूसरे देश के विरुद्ध जो आक्रमण करता है, वह बाह्य युद्ध कहलाता है। यह बाह्ययुद्ध सुखजनक नहीं होता। इससे न तो सदा के लिए शत्रुओं का अन्त होता है और न इसमें प्राप्त होने वाली विजय अन्तिम विजय ही होती है। यही नही, बाह्य युद्ध से शत्रुओ की संख्या मे वृद्धि होती है। कदाचित् विजय प्राप्त हो जाय तो नही कहा जा सकता कि वह कितने दिन ठहरेगी ? सेर को सवा सेर मिलते ही परिश्रम से प्राप्त की हुई विजय भी पराजय के रूप में परिणत हो जाती है। जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने अनेक देशों पर विजय प्राप्त कर ली थी। मगर वह विजय कितने दिन ठहर सकी ? युद्ध समाप्त भी न होने पाया कि उसकी विजय घोर पराजय के रूप मे परिणत हो गई। समग्र यूरोप को थर्रा देने वाला हिटलर निराश और हताश हो गया। उसे जिन्दा रहना दूभर हो गया और कायर की तरह आत्म-घात करके मौत का शरण में जाना पड़ा। अधिकांश बाह्य-युद्धों का परिणाम न्यूनाधिक मात्रा में इसी प्रकार का होता है।

आत्मिक युद्ध में पराजय का कोई खतरा नहीं। एकबार प्राप्त की हुई विजय चरम विजय बन जाती है। आत्मिक युद्ध के विजेता को फिर कभी पराजय का सामना नही करना पड़ता। उसे अजय आत्मिक साम्राज्य की प्राप्ति होती है।

ससार मे उसका कोई शत्रु नही रह जाता। अतएव भगवान् ने भौतिक युद्ध के बदले आत्मिक युद्ध का ही विधान किया है। हमे भगवान् तीर्थकर द्वारा प्रदर्शित पथ पर ही आगे बढ़ना है और इसलिए आत्मविजय के महान् युद्ध मे तपस्या के अमोघ शस्त्र का प्रयोग करना है।

तोप, तलवार, बन्दूक, परमाणुबम आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग तो कायर भी कर सकते हैं, मगर तपस्या का शस्त्र शूरवीर ही काम मे ला सकता है। उन शस्त्रो से प्राणियो का घात किया जाता है, इस दिव्य शस्त्र से प्राणियो का रक्षण होता है। वे शस्त्र स्व-पर के विनाशकारी हैं, यह शस्त्र स्व-पर का विकासकारी होता है। अतएव ऐ भगवान् महावीर के वीर योद्धाओ! तपस्या के शस्त्र को ग्रहण करो और आत्मिक शत्रुओ के विरुद्ध धावा बोल दो। ऐसा करोगे तो तुम्हे त्रैलोक्य का अक्षय और अनन्त साम्राज्य प्राप्त होगा और ससार मे तुम्हारा कोई भी शत्रु नहीं रह जायगा। शत्रुओ के साथ शत्रुता भी समाप्त हो जायगी।

सरकार युद्ध की शिक्षा देती है। किसी-किसी देश मे अमुक उम्र के नौजवानों को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दी जाती है। इस प्रयोजन से कि यदि देश के नौजवान युद्ध शिक्षा पाये हुए न हो तो देश की समुचित रक्षा नहीं कर मकते। हमारे इस धर्म युद्ध की सब भाई बहिनो को ट्रेनिंग लेनी चाहिए। आप ट्रेड होंगे तो समय पर पीछे पैर रखने की नौबत नहीं आएगी। आपको पराजय का मुँह नहीं देखना पड़ेगा।

एक आटे का दीपक होता है। यदि उसे घर मे रक्खा जाय तो चूहे खा जाते हैं और यदि बाहर रखते हैं तो कौवे

चट कर जाते हैं। जो साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका आटे के दीपक जैसे रहेंगे, उनकी कहीं भी खैर नहीं है—न घर मे, न बाहर। हमे किसी दृढ़ पदार्थ का दीपक बनना चाहिए। हमारी कमजोरी के कारण ही दूसरो को हमे लूटने का हौसला होता है। अगर तुम किसी मजबूत धातु के बने होते तो दूसरे लोग तुम्हारी तरफ आँख उठा कर भी न देख पाते।

भद्र पुरुषो! कौन नही जानता कि दुर्बल को सभी सताते हैं। दुर्बल लोग सताने वालो को परोक्ष रूप मे, सताने की प्रेरणा देते हैं। इस कारण दुर्बलता भी एक प्रकार का पाप है। आप महावीर की सन्तान हैं, उन महावीर की सन्तान हैं जिनका चिह्न पराक्रम का प्रतीक सिंह है! अगर आपने वीरता और पराक्रमशीलता को अपने जीवन में ओत-प्रोत न कर लिया तो भगवान् महावीर के आदर्शों से क्या लाभ उठाया? कुछ भी नही।

तात्पर्य यह है कि आपको वीर बनना चाहिए और वीरता धारण करके अपने मन पर विजय प्राप्त करना चाहिए। मनो विजय कर लेने पर राग और द्वेष का विनाश हो जाता है और सभी दु खो का अन्त होकर सुख का द्वार खुल जाता है। यही सच्चे सुख को प्राप्त करने की कुंजी है। जब तक आप पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष करते रहेंगे, विभाव परिणति के कीचड़ में फँसे रहेगे, सहज समभाव को अपनाने के लिए प्रयत्नशील न होंगे, विषय-लालसा से विमुख न होगे और कामनाओं के शिकार बने रहेंगे, तब तक सच्चा सुख प्राप्त नही कर सकते। इस ध्रुव सत्य को हृदयङ्गम करके वीतराग भाव की आराधना करो, गृहस्थी में रहते हुए अलिप्त एवं

अनासक्त रहने का ख्याल रक्खो और आत्म-भाव में रमण करो। बस, सुख विना बुलाए तुम्हारे पास आएगा।

भारत के कुछ तत्त्व-चिन्तकों ने अपने अधूरे चिन्तन की बदौलत सुख के विषय में कई गलत धारणाएँ बनाई हैं। उनमे से कुछ का कहना है कि आत्मा सुख-स्वरूप नहीं है। सुख आत्मा का स्वभाव नही है। आत्मा भिन्न पदार्थ है, सुख भिन्न पदार्थ है। आत्मा में सुख की जो प्रतीति होती है, वह औपाधिक है। जब आत्मा सब उपाधियों से मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त कर लेता है, तब सुख भी नष्ट हो जाता है।

मगर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अगर मोक्ष होने पर आत्मा सुख से सर्वथा वचित हो जाता है और जो ससार में थोड़ा-बहुत सुख प्रतीत होता है वह भी नही रहता, तो फिर मुक्ति प्राप्त करने में आकर्षण ही क्या है? किस लिए बुद्धिमान् जन मुक्ति के लिए घोर कष्ट सहन करते हैं? सांसारिक सुखों का त्याग करना, तपश्चरण करना, देह-दमन करना, यह सब आखिर किस प्रयोजन के लिए हैं? क्या गाँठ की पूँजी गँवा देने के उद्देश्य से कोई व्यापार करता है? थोड़े-से सांसारिक सुख से भी हाथ धो बैठने के लिए मोक्ष की साधना नही की जाती। अतएव यही मानना उचित और सत्य है कि मोक्ष अनन्त सुखमय है। सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है और स्वाभाविक गुणो की परिपूर्णता ही मोक्ष कहलाती है। अतएव जब मुक्ति प्राप्त होती है तो अनन्त सुख गुण में भी सम्पूर्णता आ जाती है।

सुख आत्मा का निज गुण है। अगर ऐसा न होता तो सुख के प्रति आत्मा का जो तीव्र आकर्षण देखा जाता है, वह न

होता। अतएव जैसे अग्नि की उष्णता अग्नि-रूप है और पानी की शीतलता पानी रूप है, उसी प्रकार सुख आत्मरूप है।

यहाँ एक प्रश्न शेष रह जाता है। यदि सुख आत्मा का निज गुण है तो वह आत्मा से अलग नही होना चाहिए। सदैव आत्मा मे विद्यमान रहना चाहिए। फिर आत्मा दु खी क्यो है? सभी जीव समान रूप से सुखी क्यो नहीं हैं? प्रत्येक आत्मा मूल स्वरूप से समान गुणों का धारक है तो फिर उनके सुख मे अन्तर क्यो पाया जाता है? साधन होने पर भी निर्धनता क्यो है? जैसे रात और दिन तथा अधकार और प्रकाश परस्पर विरोधी हैं, उसी प्रकार सुख और दु ख भी विरोधी हैं। फिर सुख स्वभाव वाला जीव दुखी क्यो है?

इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा। आज इतना समय नहीं है कि विस्तार से इसका उत्तर दिया जाय। अतएव विस्तृत निर्णय कल पर छोडना पड़ेगा। हाँ, संक्षेप मे यह कह देना उचित होगा कि आत्मा स्वभाव से सुखमय है, किन्तु अनादि कालीन कर्म-जनित विचारों से प्रभावित होकर वह अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। जैसे सघन मेघमाला से मरीचिमाली का महान् तेज आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का सुखगुण भी कर्मों के कारण आच्छादित हो रहा है। मगर सघन से सघन घन भी सूर्य के प्रकाश को सर्वथा नष्ट करके अँधेरी रात्रि के समान अंधकार नही फैला सकते। दूसरे शब्दों मे यों कहा जा सकता है कि जगत् में कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु के स्वभाव का सर्वथा विनाश नहीं कर सकती। सघन मेघा की विद्यमानता मे भी सूर्य का किञ्चित् प्रकाश बना ही रहता है और सूर्य की प्रकाश-स्वभावता की सूचना देता रहता है। इसी प्रकार कर्म की प्रबलता होने पर भी आत्मा का सुख-गुण

किसी न किसी मात्रा मे बना रहता है और उससे अनुमान होता है कि आत्मा सुखस्वभाव है।

जैसे जल शीतल होने पर भी विजातीय द्रव्य अग्नि के संयोग से उष्ण प्रतिभासित होने लगता है, उसी प्रकार आत्मा भी दु.खी जान पड़ता है, यद्यपि स्वभाव से वह सुखमय ही है।

उस सुखमय स्वभाव को प्राप्त करने के लिए ही भगवान् की स्तुति की जाती है। निराबाध, शाश्वत और परिपूर्ण सुख के लिए अनेक प्रकार की अन्य साधनाएँ भी की जाती हैं। एक बार फिर बोलिए·—

अरिहन्त अरिहन्त · · ·

राजकोट }
२४-७-५४ }

: ७ :

आनन्द का निदान

प्रार्थना

णमोकार मंतर णमोकार मंतर,
णमोकार मंतर णमोकार मंतर ।
जो अरिहन्त देवों ने आफजल बताया,
जो शक्ति में सबसे अधिकतम कहाया ।
महामंत्र ऐसा भला कौनसा है ?
जो मुर्दों में रुह डालने का सा है ।
णमोकार मंतर ॥ १ ॥

यह इकनातवां का यकीनन सहारा,
दिखाने को रस्ता यह चमका सितारा ।
अनेकों को जिसने वैतरणी से तारा,
जो कोई पूछे तो करदू इशारा ।
णमोकार मंतर ॥ २ ॥

सुभद्रा पै जिस दम सङ्कट पड़ा था,
सुदर्शन भी शूली पर जब कि चढ़ा था ।
प्रभव चोर जम्बू के घर जब बडा था,
हुआ ज सहायक उन्हें तब वो क्या था ।
णमोकार मंतर ॥ ३ ॥

वो क्या है जिसे रोज जपते हैं मुनिजन,
वह क्या है जिसे रोज भजते गुनी जन।
वह क्या है हृदय जिससे होता है पावन ?
सुनो ध्यान धर कर यह कहता है चंदन,
णमोकार मंतर ॥ ४ ॥

भद्र पुरुषो तथा बहिनो !

आप के सामने पंचपरमेष्ठी-नमस्कारमत्र की स्तुति का उच्चारण किया गया है। महामत्र सर्वोत्कृष्ट और महामगलकारी है। इसकी महिमा अचिन्त्य है, अतर्क्य है अनिर्वचनीय है। यह महामत्र चौदह पूर्वों का सार कहा गया है। ससार में बहुत-से मत्र हैं और वे प्रभावशाली भी होते है, मगर नमस्कार-महामत्र के प्रभाव की तुलना नही हो सकती।

'णमोक्कार' का अर्थ नमस्कार है। किसको नमस्कार ? इसका उत्तर है—पचपरमेष्ठी को। पाँच पदो को, पॉच महान् हस्तियो को जो सर्वोपरि और अपने अपने स्वरूप में अद्वितीय हैं, उनको हमारा नमस्कार है। परम का अर्थ है—उत्कृष्ट या श्रेष्ठ। जो परमपद मे स्थित हैं, उन्हे परमेष्ठी कहते है। परमेष्ठी के मूल में दो विभाग हैं—देव और गुरु। पाँच पदों मे से आदि के दो पद अर्थात् अरिहन्त और सिद्ध देव रूप हैं। अन्त के तीन अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरु रूप हैं।

पाँचो परमेष्ठी हमारा महान् उपकार करने वाले हैं। भौतिक उपकार या द्रव्य उपकार भी लोक में उपकार कहलाता है, परन्तु वह ऐकान्तिक या आत्यन्तिक उपकार नही है। द्रव्य-उपकार कभी-कभी अपकार भी हो जाता है। कदाचित् अपकार न हो तो भी वह स्थायी नही होता। उस उपकार से उप-

कृत व्यक्ति सदा के लिए इस योग्य नहीं बन जाता कि फिर उसे उपकार की अपेक्षा ही न रह जाय। कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति भूख से पीड़ित है और सर्दी के मौसम मे वस्त्र के बिना व्यथा पा रहा है। वह आपके सामने आया। आपने अनुकम्पा के शुभ भाव से प्रेरित होकर उसे भोजन करा दिया और ओढ़ने के लिए वस्त्र दे दिया। उसका यह द्रव्य-उपकार हो गया। मगर चार घटे के पश्चात् उसे फिर भूख लग आई। कुछ महीनो के बाद वह वस्त्र भी फट गया और शीतनिवारण के अयोग्य हो गया। ऐसी स्थिति मे आपका किया हुआ उपकार स्थायी नहीं हुआ। कदाचित् आपने भूखे को भोजन कराया और वह हवस के कारण मर्यादा से अधिक खा गया तो उसका अपकार भी हो सकता है। अतएव द्रव्य-उपकार कभी अपकारकारक भी हो जाता है।

भाव उपकार एकान्त उपकाररूप होता है। उससे कभी अपकार नही हो सकता। ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रदान करके किसी को मोक्षमार्ग मे लगा देना, मिथ्यात्व के कुपथ से हटा कर सम्यक्त्व के सन्मार्ग पर लाकर खड़ा कर देना भाव-उपकार कहलाता है। अज्ञान के अंधकार मे भटकने वालों को सम्यग्ज्ञान का प्रकाश देना और असंयम के पंक मे फँसे हुए को संयम के राजमार्ग की ओर उन्मुख करना भाव-उपकार है। इस उपकार से किसी भी कालमे, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी व्यक्ति का, किसी भी रूप मे अपकार नहीं हो सकता। साथ ही यह उपकार आत्यन्तिक उपकार है। इस उपकार की बदौलत उपकृत जीव इस योग्य बन जाता है कि उसे फिर उपकार की अपेक्षा नहीं रहती। उसे पुन पुन किसी के आगे दीनतापूर्वक हाथ पसारने और गिड़गिड़ाने की आवश्यकता

नहीं रह जाती। यही नही, उसमे ऐसी योग्यता और क्षमता आ जाती है कि वह दूसरो का उपकार करने लगता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्योपकार की अपेक्षा भावोपकार श्रेष्ठ है।

इस कथन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि द्रव्योपकार कर्त्तव्य नही है। जिसमे जैसी शक्ति है, उसे अपनी शक्ति के अनुसार परोपकार करना ही चाहिए। अगर आपके पास द्रव्य-साधन है और किसी को उनकी आवश्यकता है तो उसकी पूर्त्ति करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। फिर भी वस्तुस्वरूप को यथावस्थित रूप से समझना चाहिए।

परमेष्ठी जगत् का परम-उपकार करते है। भौतिक भलाई से बढ़ कर आध्यात्मिक भलाई मे निमित्त बनते है। अतएव वह नमस्करणीय है।

संसार-पक्ष मे जो मित्र होते है, वे अपने मित्र का भला करते हैं, उसे नीतिमार्ग मे प्रेरित करते है, समय आ पड़ने पर आर्थिक सहायता देकर उसके सकट को दूर करते है, उसे आराम पहुँचाते हैं और सुख-दु ख मे काम आते हैं। वे इष्ट मित्र कहलाते है।

सिनेमा, नाटक या किसी अन्य कुव्यसन की तरफ ले जाने वाला मित्र इष्ट मित्र नही कहलाता। इष्ट मित्र तो वही कहला सकता है, जो पापमार्ग से हटा कर अपने मित्र को धर्म और नीति के पथ पर ले जाता है। कहा भी है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात्—सन्त पुरुषों ने अच्छे मित्र के लक्षण यह बतलाये हैं—जो अपने मित्र को पाप से निवारण करता है, धर्म में लगाता है, जो मित्र की गुप्त रखने योग्य बात को गुप्त रखता है—उसके किसी दोष का ढिंढोरा नहीं पीटता, गुणों को प्रकट करता है; कदाचित् मित्र आपत्ति में पड जाय तो उसका परित्याग नहीं करता, बल्कि उसकी सहायता करता है, अवसर आने पर तन मन धन से सहयोग देता है, वही सच्चा मित्र है।

मगर आजकल की मित्रता निराले ढंग की देखी जाती है। आज अधिकांश मित्र ऐसे मिलते है जो अपने मित्र को धर्म से भ्रष्ट करके अधर्म में लगा देते हैं। व्यसनहीन को दुर्व्यसनी बना देते हैं। सदाचारी को दुराचार का पाठ पढ़ाते हैं। न्याय नीति के पथ से भटका कर अन्याय और अनीति के दुःखमय मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं। नीतिकारों का कहना है कि—

यानि कानि च मित्राणि, कर्त्तव्यानि शतानि च।

अर्थात्—जितने भी अधिक मित्र बनाये जा सकते हों, उतने बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कौन जाने कब कौन मित्र सहायक सिद्ध हो जाय। मगर साथ ही यह भी कहा गया है कि—

समान शील व्यसनेषु सख्यं

अर्थात् सच्ची मैत्री उन्हीं मे होती है, जिनका आचार-विचार और रुचि-प्रीति समान हो। भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले लोगों में प्रीति हो नहीं सकती और कदाचित् किसी निमित्त से हो जाय तो निभ नहीं सकती। अगर वह निभ भी गई तो एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

सन्मित्र कोई विरले ही मिलते है। जिन्हे सन्मित्र मिला है, समझना चाहिये कि वह भाग्यशाली है। परन्तु कुमित्र का मिल जाना बड़े से बड़ा दुर्भाग्य है।

जिसकी सगति से या सम्पर्क से दु ख की प्राप्ति हो, तत्कालिक आनन्द का अनुभव होने पर परिणाम मे दु ख हो, मनुष्य सत्पथ से भ्रष्ट हो जाय, वह मित्र नही शत्रु है, बल्कि शत्रु से भी अधिक भयकर है। शत्रु से सावधान रहा जा सकता है, मगर मित्र से सावधान रहना कठिन है। कुमित्र वह मीठा जहर है जो अनजान मे ही जीवन को नष्ट कर देता है। मित्र के रूप मे रहकर जो शत्रु का काम करता है, उस प्रच्छन्न-रूपधारी से बचना, सावधान रहना बड़ा ही कठिन है। गली मे चोर फिरता हो तो सब सचेत रहते है, किन्तु विश्वासपात्र मित्र ही अगर चोरी करने लगे तो उससे कैसे बचा जाय ? अपना हितैषी मित्र मानकर कोई उस पर अविश्वास नही करता। मित्र होकर भी जो घर मे डाका डाले वह महान् शत्रु हैं। व्याघ्र से बचना सहज है, परन्तु गो-मुख व्याघ्र से बचाव करना अत्यन्त कठिन है जो अपने मित्र के विचारों में खराबी पैदा कर देता है और उसे खराब आचरण सिखलाता है, वह कुमित्र अत्यन्त कृतघ्न है, महान् शत्रु है। घोर दुर्भाग्य से ही ऐसे मित्र से पाला पडता है।

भद्र पुरुषो! अगर आप अपनी भलाई चाहते हैं, अपने जीवन को उन्नत और प्रशस्त बनाना चाहते हैं, तो किसी भी व्यक्ति के साथ मैत्री सबन्ध स्थापित करने से पहले भली भाँति उसे परख लो। सौ-सौ बार उसकी जांच कर लो। अपनी सन्तान की ओर विशेष रूप से ध्यान रक्खो कि वह कुमित्रों के फदे मे फँस कर दुर्गुण और दुराचार का शिकार न बन

जाय। एक बार कुसगति से जीवन पर पड़े हुए कुप्रभाव को दूर करना दु शक्य होता है और कभी-कभी तो अशक्य भी हो जाता है।

उक्त पॉचो परमेष्ठी हमारी आत्मा के सच्चे मित्र हैं, हमारा जो वास्तविक हित है, लाभ है, उसके साथ हमे जोड़ने वाले है। वे परम मंगलमय है, सच्चे सुख के उपदर्शक हैं और आत्मा के सच्चे स्वरूप का भान करा कर उसे उपलब्ध करने की राह बतलाने वाले है।

जिसके एक मित्र होता है, वह भी गौरव का अनुभव करता है और अपने आपको बड़ा बलवान् मानता है। वह समझता है कि दो भुजाएँ मेरी है और दो भुजाएँ मुझ मेरे मित्र की प्राप्त हैं, अतएव मै चतुर्भुज हूँ। ऐसी स्थिति म जिसके पाँच-पाँच मित्र हो, मित्र ही नही, परम मित्र हों, उसकी तो बात ही क्या कहना है! वास्तव मे वह अत्यन्त भाग्यशाली है। स्वार्थों का संघर्ष होने पर अथवा विचारो मे विभेद उत्पन्न होने पर लौकिक मित्र कभी अमित्र भी बन जाते हैं, परन्तु यह लोकोत्तर पाँच परम मित्र कभी अमित्र नही बनते। यह पंच परमेष्ठी हमारे अकारण मित्र हैं। निःस्वार्थ भाव से हितैषी हैं और इनसे बढ़कर अन्य कोई हितैषी नही हो सकता। अतएव जो समय पर धोखा दे जाते हैं या आये हुए दु ख का प्रतीकार करने मे असमर्थता प्रकट करने लगते है, अथवा जो स्वार्थ में विघ्न पडते ही शत्रु बन जाते है, उन ठगों की दुनिया से ज्ञानी जन सावधान रहते हैं और लोकोत्तर मित्रो के साथ नाता जोड़ते हैं।

(१) अरिहन्त भगवान् (२) सिद्ध भगवान् (३) आचार्य

भगवान् (४) उपाध्याय भगवान् और (५) साधु भगवान्—यह पाँचो भगवान् हमारी आत्मा के परम इष्ट मित्र हैं।

आप आश्चर्य करते होगे कि मैं साधुओं को भी भगवान् कह रहा हूँ। मगर इसमे आश्चयजनक कोई बात नही है। अगर आप भापा शास्त्र के अनुसार 'भगवान्' शब्द के ठीक-ठीक अर्थ को समझ ले तो आपका आश्चर्य शान्त हो जायगा। भगवान् शब्द के अनेक अर्थ होते हैं :—

ऐश्वयस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतिस्मृतः॥

तात्पर्य यह है कि—'भग' शब्द के छह अर्थ होते है—(१) परिपूर्ण ऐश्वर्य (२) रूप (३) यश (४) श्री (५) धर्म और (६) प्रयत्न। 'वान्' का अर्थ है—वाला। जिसमे पूर्ण ऐश्वर्य हो, रूप हो, यश हो, श्री हो, धर्म हो अथवा प्रयत्न हो, उसे भगवान् कहते हैं। जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, वही भगवान् है। साधु उसी परम पथ के पथिक हैं और आँशिक ज्ञान के तथा महाव्रत आदि रूप सम्यक्चारित्र के धनी हैं, अतएव उन्हे भी देशत. भगवान् कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही है। सिद्ध भगवान् जिस लक्ष्य पर पहुँच चुके हैं, अरिहन्त भगवान् जिस पर पहुँचने ही वाले हैं, साधु उसी लक्ष्य की ओर दृढ़तापूर्वक कदम बढ़ाये चले जा रहे है। वे उसी पथ के पथिक है।

यह पाँचो हमारे परम सहायक और उपकारक मित्र हैं। मगर इन्हे मित्र कह देने या मान लेने मात्र से काम नही चलता। इन पर प्रगाढ़ और परम श्रद्धा होनी चाहिए। 'अय अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' अर्थात् यही अर्थ है, यही पर-

मगर इस नियम में एक शर्त है। वह यह कि नौका में छिद्र नही होना चाहिए। छिद्र हों तो नौका पानी में डूब जाती है —नीचे चली जाती है। अगर छिद्र के कारण नौका पानी में डूब जाती है तो इसमे पानी का कोई दोष नही है। वह तो नौका को ऊपर तिराना चाहता है, मगर सछिद्र नौका अपने ही दोष के कारण नीचे चली जाती है। यह तो नौका का ही दोष है, पानी का नहीं।

इसी प्रकार धर्म सब जीवात्माओं को ऊपर उठाना चाहता है। धर्म का स्वभाव ही ऐसा है। मगर सछिद्र जीव अर्थात् सदोष जीव नीचे गिर जाते हैं—भवसागर मे डूब जाते हैं, दुःख का अनुभव करते है। जिन जीवो में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूपी छिद्र विद्यमान है, वे अपनी ही करणी के कारण संसार-समुद्र मे डूबे रहते है।

जो प्राणी असहिष्णु हैं, रागी-द्वेषी है, कामी, कुटिल और अति लोभी हैं, वे भव-सागर को पार नही कर सकते और दुःख के आघातो से नही बच सकते। आप लोगो को जाँच कर लेनी चाहिए कि आपकी नैया मे कहीं कोई छिद्र तो नहीं है!

छिद्रहीन नौका का वर्णन श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २३ वें अध्ययन में आता है, जिसमे केशी-गौतम का संवाद है। यह अध्ययन अनेक दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें उस काल के दो प्रसिद्ध विद्वानो की तत्त्वचर्चा है, जो अलग-अलग तीर्थंकरो के शिष्य थे। तेईसवें तीर्थंकर पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रधान, चार ज्ञानों के धारक श्रीकेशी स्वामी और चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी थे। दोनों त्यागी, दोनों योगी थे। वे

श्रावस्ती नगरी मे मिले। आपस में अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर हुए। उनमे से एक यह भी है। केशी अनगार ने प्रश्न किया—

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई।
जंसि गोयम! मारूढो, कहं पारं गमिस्ससि॥

अर्थात्—हे गौतम! इस महासमुद्र में तुम्हारी नैया कैसे तैर रही है? और इस पर आरूढ़ होकर कैसे पार पहुँचोगे?

यह प्रश्न सुन कर श्रोताजन आश्चर्य मे पड़ गए। दोनो महान् ज्ञानियों का संवाद सुनने के लिए मानव-मेदिनी जमा हो गई थी। मानवो के अतिरिक्त देव और दानव भी उपस्थित थे। देवो और दानवो को भी इस संवाद की खबर पहुँच गई थी। कैसे खबर पहुँची, यह कौन जाने? उस समय कोई टेलीफोन नही था। दर्शनार्थ आने वाले देवो ने खबर पहुँचाई होगी या देवो ने अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा जान लिया होगा। जो हो, बात छिपी नहीं रहती। दो विभिन्न परम्पराओ और समाचारियों का प्रतिनिधित्व करने महान् योगी विशुद्ध भावना से, समन्वय के उद्देश्य से और शासन के उत्थान के विचार से एकत्र हुए थे। यह घटना अपने ढङ्ग की निराली थी। भविष्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। अतएव धर्मप्रेमी जनो को इस महा-सम्मेलन के विषय मे रुचि होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि इस धर्मसंवाद के अवसर पर अनेक प्रकार के लोग उपस्थित थे, जिसका वर्णन शास्त्र में है।

केशी स्वामी का प्रश्न सुन कर सब श्रोता विचार में पड़ गये कि इतने बड़े विद्वान् होकर समुद्र और नाव की क्या बात कर रहे हैं! कहाँ यहाँ समुद्र है और कहाँ नाव है, जिस पर

गौतम आरूढ़ हैं। विना प्रकरण की बातें क्यों पूछी जा रही है ?

मगर महान् पुरुषो के मर्म को महान् हीं समझ पाते हैं। दोनो मुनीश अतिशयज्ञानी थे। वे किसी गुप्त रहस्य को खोलने के लिए सकेतो और उदाहरणों की भाषा मे सम्वाद कर रहे थे। गौतम स्वामी ने उत्तर दिया :—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी॥

जिस नौका मे छिद्र होते हैं, वह पार नही पहुँच सकती। जो नौका छिद्ररहित होती है, वही पार पहुँच सकती है और उसी पर आरूढ़ पथिक भी पार लग सकते है। गौतम स्वामी यह भी कहते हैं—मै छिद्रहीन नौका पर सवार हूँ, अतएव पार लग जाऊँगा।

नौका मे छिद्र क्या है ? आस्रव ही छिद्र हैं। कर्मों के आगमन का स्रोत आस्रव कहलाता है। आस्रव के वीस भेद हैं, जिन्हे आप मे वहुत-से जानते होंगे। संक्षेप में पाँच भेद भी माने गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह भी आस्रव हैं। किसी भी भाषा में कहा जाय, आशय सव का एक ही है।

जिस आत्मा मे यह दोष होते हैं, उसकी नैया भव-सागर से पार नही हो सकती। इन दोषो रूपी छिद्रों से पाप रूपी पानी आता रहता है। उस पाप-पानी से आत्मा भारी होकर डूव जाता है। गौतम स्वामी की नौका मे यह छिद्र नही थे। अतएव वह कह रहे हैं कि मैं छिद्ररहित नौका पर आरूढ़ हूँ, अत. पार पहुँच जाऊँगा।

गौतम स्वामी का उत्तर सुन कर केशी महाराज ने पूछा—

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेव वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥

केसी स्वामी ने गौतम स्वामी से कहा—वह कौन-सी नौका है जिस पर आरूढ़ होकर तुम ससार-समुद्र से पार जाना चाहते हो? गौतम ने बताया —

सरीरमाहु नावात्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो॥

हे केशी स्वामिन्! यह शरीर नौका है। जीवात्मा इस नौका का खेवनहार है। यह संसार समुद्र है, जिसे महान् ऋषि तैर जाते हैं।

भद्र पुरुषो! निश्छिद्र नौका की बात चल रही है। वह पानी पर तैर जाती है, पार तक पहुँच जाती है और जो उसका आश्रय लेता है, उसे भी परले पार पहुँचा देती है। गौतम की नौका 'निरस्साविणी' है। उसमें कोई छिद्र-दोष नहीं है। अगर इस काया रूपी नौका मे छिद्र न हों—इस काया के द्वारा अशुद्ध आचरण न किया जाय तो बेड़ा पार हो जाता है।

केशी और गौतम महामुनीश्वर थे। गुणो के भंडार थे। दोनों के पास विपुलसंख्यक शिष्य परिवार था। दोनो महामान्य, श्रद्धाभाजन और पूजनीय योगी थे। दोनों चर्चावादी थे, पर विजय प्राप्त करके अपने अभिमान का पोषण करने की दुर्वृत्ति से रहित थे। विजिगीषु बन कर वाद नहीं कर रहे थे। सरल भाव से, जिज्ञासु बन कर वीतराग चर्चा कर रहे थे। अपनी विद्वता या वादनिपुणता प्रदर्शित करने के लिए नहीं,

वरन् अपने साधना के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए और तीर्थंकर भगवान् के शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए ही वे चर्चा मे प्रवृत्त हुए थे। उनके चित्त म तनिक भी वक्रता नही थी, दुराग्रह नही था, प्रतिवादी को हल्का दिखलाने की हल्की भावना नही थी। अतएव गौतम का उत्तर सुन कर केशी स्वामी को सन्तोप हुआ और उनकी बात को अपना लेने के लिए उद्यत हो गये।

केशी और गौतम के अन्तेवासी अनेक ऐसे मुनिवर थे, जो अपनी अलग-अलग विशेपताएँ रखते थे।

एक एक मुनिवर रसना त्यागी,
एक-एक ज्ञान-भण्डार रे प्राणी!
एक-एक वैयावचिया वैरागी,
तेहना गुणना नावे पार रे प्राणी!
साधु जी ने पन्दना नित-नित कीजे,
यह ऊ गन्ते सूर रे प्राणी॥

वन्धुओ! मुनियों को भी भगवान् कहा गया है, सो वेपमात्र धारण करने वालों को नहीं। साधु का वेप पहन लेने से ही कोई साधु नही हो जाता। तीर्थंकर भगवान् ने साधु के जो गुण वतलाये हैं, उन गुणो को धारण करने वाला महात्मा ही साधु कहलाता है। यह वात मैं अपनी तरफ से नहा कहता शास्त्र मे भी यही कहा है :—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण वम्हणो।
न मुणी रण्णवासेण, वुसचीरेण तावसो॥

मूँड मुडा लेने मात्र से कोई श्रमण के श्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। तोते की तरह ओंकार की रट लगाने से किसी

को ब्राह्मण की पदवी नही प्राप्त होती। घर छोड़ कर वनवास कर लेने से ही कोई मुनि नहीं कहला सकता। कुश का वस्त्र धारण करने से कोई तापस नहीं बन जाता।

तो फिर श्रमण आदि कौन कहलाता है? सुनिए :—

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

जो समभाव की साधना में सफलता प्राप्त करता है, वह श्रमण कहलाता है। ब्रह्मचर्य की वरिष्ठ वाटिका में विहार करने वाला ब्राह्मण कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान का धनी मुनि है और तप की अग्नि मे अपने विकारों को भस्म करने वाला, अपनी काया को झौंक देने वाला तपस्वी का पद पाता है।

जिनशासन मे तपस्या के अनेक रूप प्रतिपादन किये गए हैं। मुनिजन अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल तपस्या का चुनाव कर लेते है। उस तप को विशेष रूप से और दूसरे तपो को सामान्य रूप से अपनाते हैं। कुछ मुनि रस के त्यागी होते हैं, अर्थात् घी, दूध, गुड, तेल आदि रसों का परित्याग करके रसपरित्याग नामक तप में लीन रहते हैं। कुछ मुनि सेवा-भावी होते हैं। वे वैयावृत्य तप के द्वारा आत्मा का कल्याण करते हैं। कुछ ज्ञान के भण्डार होते है। वे स्वाध्यायतप की आराधना करके स्व-पर कल्याण कर लेते हैं।

भाइयो! इस रसना पर काबू पा लेना बडा कठिन है। रसों का त्याग कर देना सहज नही है। रसना (जीभ) को घर परी भी कहते हैं। स्वाद लेने के लिए यह बड़ी उतावली रहती है। लपलपाती रहती है। पाँचो इन्द्रियो मे इस लाली बाई को जीतना सब से कठिन काम है। रसना के द्वारा ही अन्य

इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है। अतएव जो रसना को जीत लेता है, शेष इन्द्रियों को जीत लेना उसके लिए सरल हो जाता है। अतएव जो जितेन्द्रिय बनने की आराधना करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम रसना को वशीभूत करना चाहिए और स्वाद के प्रति आसक्ति घटानी चाहिए।

जिह्वा दो काम करती है—रसास्वादन करती है और भाषण करती है। बोलने और खाने पर काबू पाना गुरुतर साधना है। कवि ने कहा है—

रे जिह्वे ! कुरु मर्यादां, भोजने वचने तथा।
वचने प्राणसन्देहो, भोजने चा ह्यजीर्णता॥

अर्थात् - हे रसने ! तू भोजन करने और भाषण करने में मर्यादा का ध्यान रख। अगर भाषण करने मे मर्यादा का उल्लंघन किया तो प्राणों पर संकट आ सकता है। और यदि भोजन मे मर्यादा का ध्यान न रक्खा तो अजीर्णता हो जायगी। अजीर्णता अनेक रोगो का कारण है—व्याधियों का घर है। इन दोनो मे मर्यादा रखने वाला बहुत-से दु.खो से बच जाता है।

मगर आज जिह्वालोलुपता की बदौलत क्या हो रहा है ? शाक में नमक कम हो या दूध मे शक्कर कम हो तो पति-पत्नी मे झगड़ा हो जाता है। कई तो ऐसे तुनुक मिज़ाज़ होते है कि थाली पटक कर चले जाते है। ऐसे लोग नहीं जानते कि वे जीभ के गुलाम बन कर जीवन को अभिशाप रूप बना रहे हैं।

भाषण करने में जीभ जब निरकुश हो जाती है, तब भी अनेक अनर्थ उत्पन्न करती है। द्रौपदी ने दुर्योधन को कटु

वचन कहे। उन वचनो ने कितना भीषण प्रभाव दिखलाया। महाभारत युद्ध को जन्म दिया और देश बर्बाद हो गया। दुर्वचनों की बदौलत आज भी अनेक संघर्ष होते रहते हैं और बहुतो को प्राणों से हाथ धोना पडता है। इसीलिए विद्वान् कहते है—

जिह वाया खण्डन नास्ति, तालुको नैप भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ?"

अर्थात्–मधुर और प्रिय वचनो का उच्चारण करने से जीभ तो कट नही जाती और न तालु में ही छेद हो जाता है। बोला हुआ मीठा अक्षर भी सदा के लिए नष्ट नही होता। जब चाहो तभी उसे दोबारा बोल सकते हो। ऐसी स्थिति मे मधुर वचन बोलने मे क्यो दरिद्रता दिखलाते हो ? अतएव—

अर्थं पथ्यं, तथ्यं, श्रव्यं मधुर हित वचो वाच्य,
विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचन विचार कैर्नित्यम् ॥

जो जिनेन्द्रदेव के वचनो पर विचार करने वाले है, उन्हे सदैव सार्थक, कल्याणमय, सत्य, श्रवण करने योग्य, मधुर और हितकारी वचनो का ही प्रयोग करना चाहिए और इससे विपरीत वचनो का त्याग करना चाहिए। अर्थात् निरर्थक, अपथ्य, असत्य, अश्राव्य, कठोर एव अहितकर वचन कदापि नही बोलना चाहिए।

इन्द्रियो से रसना की तरह छह काय के जीवों में वायुकाय की रक्षा करना बहुत कठिन है।

देखता हूँ कि कई लोग सामायिक में बैठे रहते हैं, परन्तु उनके मुख पर मुखवस्त्रिका नही होती। मगर चपरास के बिना चपरासी कैसा! पट्टे बिना कैसा सैनिक! सामायिक-पौषध

आदि संवर की करणी करते समय मुखवस्त्रिका बाँधे बिना नहीं बैठना चाहिए ! हम छद्मस्थ हैं, कदाचित् उपयोग रहे, कदाचित् न भी रहे ! मुखवस्त्रिका बँधी रहे तो खुले मुख बोलने का प्रसंग न आवे।

चोर के डर से घर के द्वार तो बन्द रखते हो, परन्तु सामायिक आदि में मुख का द्वार क्यों खुला रखते हो ? दानादि के लाभार्थ जिसे खुला रखना चाहिए, उसे तो बंद रखते हो और जिसे बंद रखना चाहिए, उसे खुला रखते हो ! यह उल्टी परिपाटी कैसी।

एक कहावत है—'अंधी पीसे कुत्ता खाय।' अंधी स्त्री घर का द्वार खुला रख कर गेहूँ पीसती है। उधर से कुत्ता आकर आटा चाटता जाता है। अंधी होने के कारण बेचारी देख नहीं सकती है। उसका श्रम व्यर्थ चला जाता है और अन्न भी हाथ से निकल जाता है। आप लोग धर्म-क्रिया करते हैं, कष्ट सहन करते हैं, परन्तु यदि खुला द्वार रक्खा तो कुत्ते आटा चाट जाएँगे। कई लोग भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्रों का पाठ करते हैं, परन्तु मुख खुला रखते हैं। उनकी हालत 'अंधी पीसे कुत्ता खाय' वाली ही समझना चाहिए। एक तरफ धर्म-क्रिया करते जाओ और दूसरी तरफ खुले मुख बोलते जाओ, यह परस्पर विरोधी प्रवृत्ति उचित नहीं है।

स्तोत्र का पाठ करना लाभ का कारण है। पाठ करोगे तो तुम्हारा ही भला होगा। भगवान् स्तुति के भूखे नहीं हैं, मगर खुले मुख से स्तुतिपाठ करना उलटा हानि का कारण है। स्तुतिपाठ करने से निर्जरा होती है, मगर खुले मुख पाठ करने से वायुकाय की हिंसा होती है। यह एक तरफ पीसते जाना

और दूसरी तरफ कुत्ते से चटाते जाने के समान ही है। अधी यदि द्वार बंद करके पीसे तो आटा इकट्ठा हो सकता है। आप भी अगर मुख पर मुखवस्त्रिका बाँध कर स्तोत्र आदि का पाठ करेंगे तो अधिक निर्जरा कर सकेंगे। ऐसा करने से धर्म का संग्रह होगा।

किसी भी व्यक्ति को यदि मैं खुले मुख धर्म संबंधी पाठ करते देखूँगा तो फौरन एक्शन लूँगा—उचित कदम उठाऊँगा। जो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है, वह आचार्य की और परम्परा से भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है। मै भी आचार्य श्री का प्रतिनिधि हूँ। उनका हुक्मनामा—समन लेकर आया हूँ। चपरासी के हुक्म का पालन न करोगे तो सरकारी आज्ञा को भङ्ग करने वाले गिने जाओगे। चपरासी जो हुक्म लेकर आया है, वह हुक्म सरकार का है। चपरासी तो बीच का एक माध्यम है।

भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है—'हे भगवन्! जब शक्रेंद्र बोलते हैं तो वह भाषा सावद्य है या निरवद्य है?' भगवान् ने उत्तर दिया है—'यदि यतनापूर्वक (मुख पर जाब्ता रख कर) बोला गया हो तो शक्रेन्द्र का वचन निरवद्य है, अन्यथा सावद्य है।'

कई लोग यह तर्क करते हैं कि जब बोलेंगे तब मुखवस्त्रिका बाँध लेंगे। दिन भर बाँधे रखने से क्या प्रयोजन है? किन्तु ऐसा तर्क करने वाले यह भूल जाते हैं कि हम लोग छद्मस्थ हैं, अतएव भूल हो जाना स्वाभाविक है। यदि मुखवस्त्रिका मुख पर बँधी न होगी तो खुले मुख भी बोला जा सकता है। अतएव भूल से बचने के लिए मुखवस्त्रिका बाँधे रखना जरूरी है। और फिर ऐसा करने में हानि भी क्या है?

कई लोगों को मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधना अच्छा नहीं लगता वे मुखवस्त्रिका बाँधने से घबराते है ! मै उनसे पूछता हूँ कि यदि साधु बनने का अवसर आएगा तो क्या करोगे ? जो सेर भर वजन नही उठा सकता, वह मन भर कैसे उठा सकेगा ? जो प्रथम पुस्तक की वर्णमाला भी याद नहीं कर सकता, वह आगे क्या पढ़ेगा ? कैसे बढ़ेगा ? मुख पर काबू रखने से आगे बढ़ने की गुञ्जाइश हो सकती है।

मुझे विचरणकाल मे, यहाँ आते समय मालूम हुआ है कि कई-एक साधु दिवस या रात्रि मे, शयन करते समय मुखवस्त्रिका उतार कर रख देते हैं। हम छद्मस्थों के लिए यह विचारणीय है। पञ्जाब मे ऐसी रीति नही है। वहाँ पौषधावस्था मे श्रावक भी रात्रि में मुखवस्त्रिका बाँध कर सोते है। साधु तो बाँधे रहते ही हैं।

अगर कोई साधु मुखवस्त्रिका विना सोया हो तो ऐसे भी पक्के श्रावक हैं, जो उनको नमस्कार नही करते। एक बार एक एकलविहारी साधु मुखवस्त्रिका खोल कर पाट पर सोया हुआ था। एक श्रावक ने आकर लात मारी और कहा—साधुजी के सोने के पाट पर यह कौन सो गया है ? साधुजी चौंके और बोले—श्रावकजी, यह क्या करते हो ? श्रावकने कहा—महाराज, मैं समझा कि कोई गृहस्थ पाट पर सोया पड़ा है। खुला मुख देख कर मैंने ऐसा समझा था।

महाराज की बुद्धि ठिकाने आ गई। हमारे स्थानकवासी समाज की जो संस्कृति है, पद्धति है, उसकी रक्षा करना हम सब का कर्त्तव्य है। हमें सामूहिक दृष्टि से विचार कर विवेकपूर्वक वर्ताव करना चाहिए।

वायुकाय की रक्षा के समान पाँच महाव्रतो मे चतुर्थ व्रत की रक्षा करना भी बहुत कठिन है। इस विषय मे बड़े बड़े ज्ञानी भी हार खा जाते हैं। ब्रह्मचर्य को घोर व्रत कहा गया है। उसकी मुक्त कठ से महिमा गाई है। सचमुच ब्रह्मचर्यव्रत का पूरी तरह अनुष्ठान करने से आत्मा म अपूर्व तेज का प्रादुर्भाव होता है।

इसी प्रकार पाँच समितियों में भाषासमिति का पालन करना कठिन है। समिति का अर्थ है—सम्यक् अर्थात् यतनापूर्ण प्रवृत्ति। यतना के साथ, विवेकपूर्वक, हित मित पथ्य वाणी का प्रयोग करना भाषासमिति है। मनुष्य अनेक बार क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारो के अधीन हो जाता है। उस समय उसका विवेक सुप्त हो जाता है और वाणी पर सयम नहीं रहता। मगर सावधान साधक का कर्त्तव्य है कि कभी दुर्बलताओ के वशीभूत न हो। निरन्तर जागृत रहे और अपनी चित्तवृत्तियों को कदापि सयम के क्षेत्र से बाहर न जाने दे। आचारागसूत्र मे कहा है :—

मुणिणो सया जागरन्ति।

अर्थात्--मुनि सदा जागृत रहते हैं। जो सदैव जागते रहते हैं, वही सच्चे मुनि हैं। इस कथन के आशय को भलीभाँति हृदयङ्गम करके सावधान रहना हमारा कर्त्तव्य है।

कई लोग 'समिति' के बदले 'सुमति' बोलते हैं। यह अशुद्ध उच्चारण है। इसी प्रकार प्राणातिपात को प्रणातिपात कहते है। प्रण का अर्थ होता है प्रतिज्ञा। प्रण का अधिपात न करना यह प्रथम व्रत मे विवक्षित नहो है। प्राणो अर्थात् दस

द्रव्य-प्राणो का और चार भाव प्राणो का अतिपात करना, उनका नाश करना हिंसा है और ऐसा न करना प्राणातिपात विरमण व्रत है। प्रथम व्रत मे यही अर्थ विवक्षित है।

ज्ञान के चौदह अतिचार (दोष) बतलाये गये हैं। जो व्यक्ति जान-बूझ कर गलती करते है, उनकी गलती का परिमार्जन 'मिच्छा मि दुक्कड' से नही होता। 'मिच्छा मि दुक्कड' से उस दोष का परिमार्जन हो सकता है, जो भूल से हो गया हो। शब्द शुद्धि की ओर अवश्य लक्ष्य रखना चाहिए और शब्दो का शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। तूफान मेल छोड़ने से शुद्धि की ओर ध्यान नहीं जाता और उस हालत मे अनेक अतिचार लग जाते हैं। कभी हीनाक्षर दोष का सेवन होता है तो कभी अत्यक्षर दोष का और कहीं कही 'वच्चामेलिय' का। अतएव शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे पाठो का उच्चारण करना चाहिए।

साधुओ को भाषासमिति का पालन करना अति कठिन है। उन्हें नाप-तोल कर, जाँच-पड़ताल कर शब्दो का उच्चारण करना पड़ता है। जो इस प्रकार शब्दप्रयोग करते हैं, वस्तुत. वही भाषासमिति के पालनकर्त्ता हैं। साधु, गृहस्थो के प्रति 'आओ'-'जाओ' इत्यादि आज्ञा देने वाले शब्द नहीं बोलते। यह आदेशकारी भाषा है। इसी प्रकार सावद्य भाषा का भी साधु प्रयोग न करें। उदाहरणार्थ दो वाक्य लीजिए— (१) श्रावक को रात्रि मे भोजन नही करना चाहिए। और (२) श्रावक को दिन मे भोजन करना चाहिए। सरसरी निगाह से दोनो वाक्य मिलते-जुलते अर्थ वाले प्रतीत होते हैं, मगर इनके आशय मे बहुत अन्तर है। प्रथम वाक्य रात्रि-भोजन का निषेध करता है और दूसरा दिवा भोजन का विधान करता

है। साधु त्याग-मार्ग का पोषक है, अतः वह त्याग का ही उपदेश दे सकता है; भोग का नहीं।

ये छोटी-छोटी बाते हैं। परन्तु छोटी नाड़ियो के कट जाने से जैसे शरीर नही टिक सकता, वैसे ही छोटे-छोटे नियमो का पालन न करने से बड़े नियमो का भी पालन नही हो सकता। आप जगत् की व्यवस्था पर विचार करे तो प्रतीत होगा कि छोटों के सहारे ही बड़ो की स्थिति है। अतएव छोटों की उपेक्षा करना बहुत हानिकारक होता है। इसके अतिरिक्त, यह नियम भले ही छोटे दिखाई देते हों, मगर महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यह महाव्रतों के पोषक हैं। महाव्रतों का रक्षण, पालन और पोषण इन छोटे नियमों के पालन के बिना ठीक तरह नही हो सकता।

अगर बारीक नजर से देखेंगे तो प्रतीत होगा कि हमारे जीवन में विविध प्रकार के रोगो, कष्टों और दुःखों के जो प्रसंग उपस्थित होते है, उनका मूल कारण प्राय छोटा ही होता है। वृक्ष का मूल एव बीज भी छोटा ही होता है। वह छोटा ही समय पाकर बड़े का रूप धारण कर लेता है। स्थूल दृष्टि के लोग बड़े कारण को तो देख सकते है, परन्तु उस बड़े कारण के कारण छोटे कारण का नहीं देख पाते। परिणाम यह होता है कि वे ऊपरी प्रतीकार करते है, मानो वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए उसकी शाखाओ और पत्तों पर जल का सिंचन करते है। उनकी यह चेष्टा निष्फल सिद्ध होती है।

दुःखो का सफल प्रतीकार किये बिना दुःखों से मुक्ति नही मिल सकती और सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अतएव

ज्ञानी-जन स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते है। वे जानते है कि दुःख के मूलभूत यही सूक्ष्म कारण है। इन कारणो का निवारण होने पर स्थूल कारणो को दूर करने के लिए विशेष प्रयास नही करना पड़ता। इसके विपरीत, जो स्थूल बुद्धिगम्य बड़े कारणो का ही प्रतीकार करने का प्रयत्न करते है, वे दुःखो से मुक्त नही हो सकते; क्योंकि दुःखो का सूक्ष्म कारण विद्यमान बना रहता है और उससे दुःखो के अकुर फूटते रहते है।

इसी दृष्टिकोण से मै बडी बातों के साथ ही साथ छोटी बातों पर भी ध्यान देता हूँ और आपका ध्यान भी आकृष्ट करता रहता हूँ।

जब आप अपने जीवन का निरीक्षण करे और आलोचना के रूप मे अपने दोषो का अन्वेषण और प्रकाशन करे, उस समय बड़े-बड़े दोषो को ही न देखे, प्रत्युत छोटे दोषो को जीवन के बनाव-बिगाड़ का मूल आधार समझ कर उनका भी निरीक्षण करें और निराकरण करे। स्मरण रक्खे कि वही सूक्ष्म कारण आपके सुख-दुःख के प्रधान आधार है। उन पर ध्यान दिये बिना आप अभीष्ट सुख प्राप्त नही कर सकते। इसी दृष्टि को अपना कर आप सोचेगे तो यह भी स्पष्ट समझ जाएँगे कि सुख के सम्बन्ध मे जब विचार चल रहा है तो मैने आज अनेक विषयों की चर्चा क्यों की है? वास्तव मे यह चर्चा अप्रासगिक नही, बल्कि प्रासगिक है और सुख के कारणो के साथ उसका सम्बन्ध है।

हाँ, व्याख्यान का मुख्य विषय यह चल रहा है कि यदि सुख आत्मा का निज गुण है तो ससार के जीव दुःखी क्यों है? जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सुख आत्मा का निज

गुण है और प्रत्येक आत्मा अनन्त सुख का भाण्डार है। परन्तु आत्मा अपना स्वभाव भूल गया है। कर्मों से घिर जाने और लिप्त हो जाने से आत्मा को अपने स्वभाव का भान नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति अपना धन-सोना, चाँदी, जवाहरात आदि अपने ही घर के किसी कोने मे गाड़ दे और कालान्तर मे स्मृतिभ्रंश से अथवा किसी अन्य कारण से उस स्थान को भूल जाय, तब अपने धन को खोजने के लिए इधर-उधर भटकता है, ज्योतिषियो से पूछता है, देवी-देवताओ की मनौती मनाता है और न जाने क्या क्या उपाय करता है; फिर भी कदाचित् खोया हुआ धन नही पाता। जब कोई विचारशील सज्जन मिल जाता है, तब वह बतलाता है कि क्यो इधर-उधर भटकते फिरते हो, तुम्हारा धन तुम्हारे ही घर मे गडा है तो चित्त शान्त करके खोजो; घर का धन घर को छोड़ कर बाहर भटकने से कैसे मिल सकेगा ?

हितैषी सज्जन का यह कथन सुन कर जब वह एकाग्र चित्त से ढूँढता है तो घर के भीतर ही उसे धन मिल जाता है।

इसी प्रकार यह जीवात्मा अपने सुख रूप मूलभूत स्वभाव को भूला हुआ है। वह नहीं जानता कि मेरी अन्तरात्मा की गहराई मे सुख का असीम सागर हिलोरे मार रहा है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह बाहर के पदार्थों मे सुख की खोज करता है, मगर सुख के बदले दुःख ही पल्ले पड़ता है! वह निराशा के प्रबल आघातों से आहत हो जाता है। जब कोई सच्चा त्यागी और ज्ञानी गुरु मिल जाता है, तब वह बतलाता है—हे प्राणी! तू बावला क्यो बना हुआ है। जिस वस्तु की खोज के लिए तू मारा-मारा फिर रहा है, वह तो तेरे

पास ही है। तू सुख चाहता है और वह सुख तेरी आत्मा मे ही है। सन्तोषजन्य, क्षमाजन्य, निर्लोभताजन्य अनन्त सुख तेरे भीतर भरा है। जो सुख छह खण्ड के स्वामी चक्रवर्त्ती सम्राट् को भी नही मिल सकता, और जिस सुख को स्वर्ग का अधिपति इन्द्र भी नही पा सकता, ऐसे अनुपम अनन्त सुख का तू अधिकारी हो सकता है। आत्मा के सहज सुख की वास्तव में कोई उपमा नहीं है। त्रिलोकी के समग्र सुख को एकत्र किया जाय और उसका पुंज बनाया जाय तो वह भी आत्मिक सुख की तुलना मे नगण्य सिद्ध होगा। ऐसा सुख प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है और प्रयत्न करने पर उसे प्रकट किया जा सकता है।

वह ज्ञानी पुरुष कहता है—हे आत्मन्! जिन बाह्य पदार्थों मे तू सुख की खोज करता है, उनमे सुख नही है। उनमें सुख की कल्पना मृगमरीचिका में जल की कल्पना करना है। पुद्गलो में सुख का मिथ्या आभास होता है, वास्तविक सुख नहीं है। अतएव तू अपनी इस निष्फल चेष्टा से विरत हो। पर-पदार्थों से विमुख हो जा। तू सच्चा सुख चाहता है तो राग-द्वेष का त्याग करके समभाव मे स्थित हो, कामनाओं को जीत कर निष्काम बन, आशा-तृष्णा के कुचक्र से बाहर निकल कर सन्तोषशीलता धारण कर, ममता के कठोर बन्धन को तोड़ कर फैंक दे, निर्विकार बन, एकाग्रता की साधना कर, उच्च और प्रशस्त विचारों को अन्त करण मे स्थान दे, इन्द्रियो पर और मन पर काबू पा, और इस प्रकार बाहर की ओर से दृष्टि से हटा कर अन्तर की ओर निहार। ऐसा करने पर अन्तरतर मे छिपी हुई अनन्त आनन्द-निधि तेरे लिए प्रकट हो जायगी।

जीव गुणी है, सुख गुण है। गुण और गुणी मे अभेद-संबंध है। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की संभावना तक नही की जा सकती। तथापि कभी गुणी प्रकट रुप मे ज्ञात होता है और कभी गुण। उदाहरण के तौर पर मिश्री की डली को ले लीजिए। मिश्री की डली गुणी है और उसका मिठास गुण है। डली दिखाई देती है, मिठास नही। यहाँ गुणी की मुख्यता हुई। यदि वही डली पानी मे घोल दी जाय तो डली नजर नही आती, मगर पानी को चखने से मिठास रूप गुण अनुभव होता है।

गुणी अर्थात् मिश्री की डली को देखना हो तो उस पानी को आग पर चढ़ा कर पूरी तरह सुखाना पड़ेगा। तभी मिश्री दिखाई देगी। यह एक भौतिक दृष्टान्त है। परन्तु आत्मा के विषय मे भी यही बात लागू होती है। सुख अन्दर भरा हुआ है। तपस्या आदि के द्वारा उसे प्रगट किया जा सकता है।

आत्मा मे कर्म रूप अनन्त मल भरा है, जो सुख को ढँके हुए है। उस मल को जलाये बिना सुख प्रकट नही होता। तप रूप अग्नि को प्रज्वलित करके कर्म-मल जला डालने से अनन्त सुख प्रकट हो जाता है।

गुणी और गुणों का दर्शन करने के लिए तैयारी चाहिए। मोटर मे बैठकर, सैर-सपाटा करते हुए आत्मा या सच्चे सुख का दर्शन नहीं कर सकते। जो भोग-विलास के कीचड़ मे फँसा है, विषय-वासना के विष से जिसकी चेतना मूर्छित हो रही है और जो पर-परिणति मे आसक्त है, उसे आत्मदेव के दर्शन नहीं हो सकते। वह सच्चे सुख का साक्षात्कार नही कर सकता।

आत्मदर्शन के लिए तपना पड़ेगा। जिस प्रकार गज सुकुमार मुनि, मेतार्य मुनि और स्कंधक मुनि आदि योगीश्वरों ने कठोर परीक्षा दी थी और उसमें पूर्णरूपेण उत्तीर्णता प्राप्त की थी, उसी प्रकार हमें भी इसी तरह की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर बाहर आना होगा। सुवर्ण की कितनी कठोर परीक्षा होती है ? उसके पश्चात् ही वह कुन्दन बन पाता है। आत्मिक गुणों को प्रकट करने के लिए आत्मा से कर्मों को अलग करना पड़ता है। इसके लिए ज्ञानपूर्वक तपश्चरण का आश्रय लेना अनिवार्य है।

सुख क्या है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अब तो जो आवश्यकता है, वह यह कि आप अपने जीवन को सुख की दिशा की ओर मोड़ें और सच्चे सुख के उपायों को काम में लावें। यह विषय अब समाप्त किया जाता है। परन्तु इससे पहले एक आवश्यक बात कह देना है।

मैं नित्य कह रहा हूँ कि अरिहन्त के गुण गाये जाओ। अरिहन्त के गुण अरिहन्त की आत्मा में हैं। वे अरिहन्त से अभिन्न हैं और अलग नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में अरिहन्त का गुणगान करने से हमें क्या लाभ है ? उनके गुण उन्हीं के पास हैं। हमारी आत्मा में नहीं आ सकते।

इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि अरिहन्तों की आत्मा के गुण हमारी आत्मा में नहीं आ सकते, यह सर्वथा सत्य है। किन्तु जैसे एक दीपक प्रज्वलित हो तो उसकी सहायता से अन्य अनेक दीपक प्रज्वलित किये जा सकते हैं। लाखों और करोड़ों दीपक प्रज्वलित करने पर भी मूल दीपक की कोई क्षति

नही होती। इसी प्रकार अरिहन्तों के गुण हमारे लिए मूल दीपक के समान है. उनकी सहायता से हम अपनी आत्मा में रहे हुए गुणों को प्रज्वलित कर सकते है। वे निमित्त मात्र बनते है। गुण हम में विद्यमान हैं और वही प्रकट होते हैं। अरिहन्तों के गुण हमारी आत्मा मे सक्रमण नहीं कर सकते ! तथापि उनका गुणगान करने से हमारे अन्त.करण से उन गुणों के प्रति रुचि और प्रीति उत्पन्न होती है। उन गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत होती है और न उनको न सही उन सरीखे स्वात्मीय गुणों को अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

एक प्रासंगिक बात कह दूँ। कई लोगो की धारणा है कि यदि हम किसी के घर पारणा कर लेगे तो तपस्या का फल पारणा कराने वाले के हिस्से में चला जायगा। मगर यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। जैन-धर्म का यह अटल सिद्धान्त है कि करणी का फल कर्त्ता को ही मिलता है, किसी दूसरे को नही। पारणा कराने वाला तो स्वधर्मी वात्सल्य से प्रेरित होकर यह भावना करता है कि मैं अपने भाइयों को साता पहुँचाऊं। उनकी सेवा करूँ। इस प्रकार पारणा कराने वाले को उसकी अपनी शुभ भावना का फल मिलता है, न कि तपस्या करने वाले की तपस्या का। ऐसी मान्यता जैन सिद्धान्त से विपरीत है।

तेरहपंथी सम्प्रदाय की तरह हमारी यह श्रद्धा नहीं है कि श्रावक जहर के टुकड़े हैं, कुपात्र हैं और उन्हे खिलाने पिलाने से छह काया के शस्त्र तीखे होते हैं। हम असंयत को दान देने मे एकान्त पाप नही मानते। भगवान् ने श्रावको को भी तीर्थ मे गिना है। जो तीर्थ है वह कुपात्र कैसे हो सकता है?

स्वधर्मी भाइयों की सेवा करने से धर्म की प्रभावना होती है और गुणो की वृद्धि होती है।

जो शुद्ध श्रद्धा रखकर प्रभु के गुण गायेंगे, वे इस लोक और परलोक में सुख के भाजन बनेंगे। बोलो पच परमेठी की जय!

राजकोट
ता० २५-७-५४

: ८ :

अध्यात्म का आधार—आत्मा

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

सुखाभिलाषी भव्य आत्माओ !

कल पंच परमेष्ठी महामंत्र के विषय में किञ्चित् कथन किया गया था। इस महामत्र मे पाँच महान आत्माओ को नमस्कार किया गया है, क्योंकि उनमे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण होते हैं। आत्मभावी गुण आत्मा मे ही हो सकते हैं।

आत्मिक गुणों की प्राप्ति की आकाक्षा करने वालों को सर्व-प्रथम आत्मा पर विश्वास होना चाहिए। आत्मा की सत्ता को स्वीकार किए बिना आत्मिक गुणो का स्वीकार भी नहीं हो सकता। आधेय, आधार पर टिका होता है। आत्मा आधार है, आत्मिक गुण आधेय हैं। 'मूलं नास्ति कुत शाखा' अर्थात् मूल के अभाव मे शाखा का सद्भाव कैसा ! आत्मा नही होगा तो आत्मा के गुण भी नही हो सकते। मूल धन के बिना व्याज का अस्तित्व क्या ? और नीव के बिना मकान की हस्ती क्या ? जो विद्यार्थी आगे-आगे की श्रेणियों में उत्तीर्ण होना चाहता है, उसे सर्व-प्रथम पहली श्रेणी मे उत्तीर्णता प्राप्त करनी होगी। ऐसा करने पर ही वह आगे की श्रेणियो में चढ़

स्कंधो को मान कर ही रह जाते हैं और उन्ही से आत्मा का काम चला लेते हैं। वे किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये। बुद्ध के पश्चात् उनकी परम्परा में जो अनेक दार्शनिक हुए हैं, उनके सामने कोई निश्चित्त और स्पष्ट सिद्धान्त नही था। अतएव उन दार्शनिको ने अपने-अपने तर्क के घोड़े दोड़ाये। किसी ने कहा—यह जगत् शून्यरूप है। न जड़ तत्त्व है, न चेतन तत्त्व है। किसी ने बतलाया—जगत् ज्ञानमात्र है। ज्ञान के सिवाय न तो कोई ज्ञेय पदार्थ है और न ज्ञान का स्वामी कोई ज्ञाता (आत्मा) ही है। शून्यवादी ज्ञान का भी अस्तित्व अङ्गीकार नहीं करते तब यह ज्ञानाद्वैतवादी एक ज्ञान की सत्ता मानते है। तीसरे तरह के बौद्ध कहते है—ज्ञान भी है और उससे भिन्न ज्ञेय तत्व भी है, मगर है दोनों क्षणविनश्वर। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता एक क्षण से अधिक समय तक कायम नहीं रहती। इसके अतिरिक्त और भी अनेक बौद्ध-सम्प्रदाय हैं, जिनमें तात्त्विक मतभेद है। तात्पर्य यह है कि बोद्धमत में भी आत्मा के अजर, अमर, अविनाशी स्वरूप को अस्वीकार किया गया है।

इसके अतिरिक्त अनेक दर्शन ऐसे भी हैं जो आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, मगर उसके स्वरूप के विषय में एक-मत नही हैं। सांख्यदर्शन आत्मा को नित्य—कूटस्थ-नित्य मानता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा सदैव एक रूप में रहता है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। कई लोग आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं और ज्ञानमय तथा सुखमय नहीं मानते। यह मान्यता कणाद ऋषि के वैशेषिक-दर्शन की है। वेदान्तदर्शन एक ही आत्मा मानता है, अनेक नहीं मानता। वह जड़ तथा चेतन का भेद भी स्वीकार नहीं

करता। उसके मत से एक ही चेतनब्रह्म नाना प्रकार के जड़ और चेतन के रूप मे प्रतीत होता है।

इस प्रकार जैसे अन्यान्य विषयों मे मतभेद हैं, उसी प्रकार आत्मा के विषय मे भी अनेक मत है। मै यह कहना चाहता हूँ कि आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप मे मानना ही आत्मवादी बनना है। आत्मवादी बने बिना न तो भगवद्गुण-संकीर्त्तन बन सकता है और न गुणार्जन ही हो सकता है। आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है ? इस सबध मे कहा है :—

जीवो अमुत्ति कत्ता,
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।

अर्थात्—यह जीवात्मा रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित-अमूर्त्तिक है, अपने कर्मों का कर्त्ता है, कर्मफल का भोक्ता है, कर्मोदय से प्राप्त शरीर के परिमाण वाला है, कर्म रूप उपाधि के कारण संसार मे स्थित है। सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना करके वह सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और तब स्वाभाविक ऊर्ध्व गति करके, मुक्तावस्था प्राप्त करके लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

आत्मा न सर्वदा क्षणिक है और न कूटस्थ नित्य है। यह दोनों एकान्त हैं। कोई भी वस्तु ससार मे एकान्त रूप नहीं है। वस्तुत आत्मा परिणामी नित्य है। पर्याय की दृष्टि से नाना रूपो में परिणमन करते रहने पर भी द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, अविनाशी है, अव्यय है, अच्युत है। जो वस्तु भूतकाल में नही थी, वह वर्त्तमान मे नही हो सकती और जो वर्त्तमान मे नही है, वह भविष्य मे भी न रहेगी। जिसका अस्तित्व ही नही, वह आगे-पीछे क्या करेगा ! और जिसका मौलिक

अस्तित्व है, जिसकी स्वतंत्र सत्ता है, वह पदार्थ त्रिकाल में विद्यमान रहता है। आत्मा स्वतत्र द्रव्य है, संयोगजन्य नही है। अतएव उसका कदापि अभाव नहीं हो सकता। गीता में भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सतः।

अर्थात्—असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का विनाश नही होता। आत्मा सत् है, अत त्रिकालभावी है, तीनो कालों में विद्यमान रहता है।

जैसे सत् पदार्थ का विनाश नही होता, उसी प्रकार असत् की उत्पत्ति नही होती। जो नही है, वह कभी नही होगा, क्योंकि असत् द्रव्य कभी सत् नही हो सकता। जैसे आकाश कुसुम न पहले थे, न वर्त्तमान में है और न भविष्य मे होगे।

आकाश कुसुम की बात सुन कर किसी भाई के मन में शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि जब तीर्थङ्कर भगवान् का जन्म कल्याणक, दीक्षाकल्याणक और केवल ज्ञान कल्याणिक होता है, सब आकाश से पुष्पों की वृष्टि होती है। शास्त्र मे ऐसा वर्णन आता है। इससे आकाश कुसुम होने की बात प्रमाणित होती है। परन्तु इसका समाधान यह है कि तीर्थङ्कर भगवान् के कल्याणको के समय होने वाली पुष्पो की वृष्टि अन्य प्रकार की होती है वे पुष्प अचित्त होते हैं और देवगण उनकी वर्षा करते हैं। जैसे वृक्षों से पुष्प झडते हैं, वैसे आकाश में से फूल नही बरसते। देवगण भक्ति के वशीभूत होकर देवमाया से अचित्त फूल बरसाते हैं। वे फूल सचित्त वनस्पति के नही होते। यदि वे सचित्त पुष्प होते तो तीर्थंकर भगवान् को सचित्त का सघट्टा

हो जाता। तीर्थंकरों ने ही यह बतलाया है कि साधु को सचित्त पुष्प, फल, बीज आदि के संस्पर्श से बचना चाहिए।

शास्त्र मे वर्णन आता है कि जब कोई राजा, माण्डलिक, या सेठ-साहूकार समवसरण भगवान् का प्रवचन सुनने के लिए जाता है, तब पाँच अभिगम करके ही जाता है। वे पॉच अभिगम यह है—(१) शस्त्रों का परित्याग करके जाना (२) पैरो मे उपानह पहन कर न जाना (३) सचित्त वस्तुओ को लेकर न जाना (४) उत्तरासन लगा कर जाना (५) अंजलि करके—हाथ जोड़ कर जाना।

जो बात शास्त्र से अरिहन्तो के लिए कही गई है, गुरु के पास जाते समय भी उसी का पालन करना चाहिए। गुरु के अवग्रह मे प्रवेश करते समय मन, वचन और काया एकाग्र होने चाहिए, दृष्टि गुरु के सन्मुख होनी चाहिए, चित्त मे कोई वासना या सांसारिक विचारधारा नही होनी चाहिए। पौषध-शाला मे प्रवेश करते ही मौन धारण कर लेना चाहिए। इससे दो लाभ होगे—वातावरण की शुद्धि और शिष्टाचार का पालन। तात्पर्य यह है कि समस्त योग गुरु की ओर होना चाहिए। तभी सच्ची गुरुभक्ति गिनी जाती है। गुरु की तरफ जो कदम है, वह महाकदम है और अनन्त निर्जरा का कारण है, बशर्ते कि वह विधिपूर्वक रक्खा गया हो, जैसी कि विधि शास्त्र मे वर्णित है। गुरु की तरफ जाना महान् यात्रा है। कई लोग पहाड़ की यात्रा करते हैं और कई समुद्र तथा नदियों की। मगर गुरु तीर्थ रूप है, जगम तीर्थ हैं। उनके दर्शन के लिए जाना एक प्रकार की यात्रा है।

हाँ, तो समवसरण मे सचित्त वस्तु लेकर नहीं जा सकते।

कई लोग देवताओ की नकल करके सचित्त पुष्प चढ़ाते हैं। परन्तु उनको पता नही है कि साक्षात् तीर्थंकर भगवान् पर जो पुष्पवृष्टि की जाती थी, वह अचित्त होती थी। उन पुष्पों के चयन मे वनस्पति की हिसा नहीं होती थी। जो श्रावक भगवान् के समवसरण म स्वयं माला पहन कर नहीं जा सकता वह भला भगवान् को सचित्त माला कैसे पहना सकता है ? जिसमे हिसा हो, उसकी आज्ञा तीर्थंकर भगवान् कैसे दे सकते है ? सचित्त के सेवन पर प्रतिवन्ध लगाने वाले भी स्वय तीर्थंकर भगवान् ही है।

पजाव मे लाहौर के पास वगाणा गाँव है। वहाँ एक महाआचार्य पधारे। उन्होंने अपने भाषण मे मूर्तिपूजा का मूर्त्ति पर पुष्प चढ़ाने का और मूर्ति को नहलाने-धुलाने का खूब जोरदार समथन किया। एक स्थानकवासी श्रावक ने व्याख्यान के पश्चात् खड़े होकर वड़ी सभ्यता और नम्रता से प्रश्न किया—आचार्य महाराज ! आप मुझे बहुत प्रिय लगते है। मैं आपकी भक्ति करना चाहता हूँ, आपको स्नान कराना चाहता हूँ, आप पर पुष्प चढ़ाना चाहता हूँ और आपकी पूजा करना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।

वह श्रावक बड़ा विवेकी और जानकार था। प्रतिदिन एक आसन से पाँच सामायिक किया करता था। वारह वजे से पूर्व कुछ खाता नही था। धार्मिक वृत्ति का पुरुष था।

श्रावक का यह प्रश्न सुनते ही आचार्य महाराज का पारा चढ़ गया। उनमे गर्मी आ गई। क्रोधित हो उठे। अपने ऊपर कावू न रख सके।

भाइयो ! क्रोध अनर्थों का घर है। क्रोध मे मनुष्य अन्धा हो जाता है। अन्धे दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-अन्ध और भाव-अन्ध। चक्षुहीन को द्रव्य-अन्ध कहते है और विवेकान्ध को भाव-अन्ध कहते है। भावान्ध पुरुष हित और अहित को भूल जाता है। वह स्व-पर के घात तक के लिए उद्यत हो जाता है और कभी-कभी घात कर भी डालता है। क्रोध की अवस्था मे मनुष्य एक प्रकार का पागल सवार हो जाता है। यही कारण है कि चार कषायों मे क्रोध की प्रथम गणना की गई है।

क्रोध की उत्पत्ति के कई कारण होते है। क्षेत्र अर्थात् खेत आदि, वस्तु अर्थात् मकान आदि, शरीर और उपाधि, यह क्रोधोत्पत्ति के प्रधान कारण हैं। इन कारणो से क्रोध कभी आत्माश्रित होता है, कभी पराश्रित होता है। यह क्रोध आदि विभाव ही आत्मा को डुबाने वाले हैं। इन पर काबू पाना बड़ा ही कठिन है। इनसे अनेक हानियाँ होती है। शास्त्र मे कहा है:—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

अर्थात्—क्रोध प्रीतिभाव का विनाश करता है, मान विनय को नष्ट कर देता है। मायाचार मित्रो को—मैत्री को भङ्ग करता है और लोभ सर्वनाशक है।

क्रोधी पुरुष की क्या प्रीति ! वह 'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः' होता है। अभी अप्रसन्न है और अभी प्रसन्न हो जाय ! एक क्षण पहले तुष्ट तो दूसरे क्षण मे रुष्ट ! क्रोधी को बिगड़ते देर नही लगती। क्रोधशील पुरुष को समस्त धर्मक्रियाएँ निरर्थक हो जाती है। कहा भी है:—

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यम्,
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्म व्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यम्,
रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत्॥

भले ही कोई मास मास की तपस्या करे, सत्य भाषण करे, ध्यान करे, वस्ती से बाहर जाकर एकान्त में निवास करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, भिक्षा द्वारा शरीर का निर्वाह करता हो, किन्तु वह यदि क्रोध करता है तो उसका यह समस्त अनुष्ठान निरर्थक है—निष्फल है। क्रोध की आग में उसकी सब धर्मक्रियाएँ जल कर भस्म हो जाती हैं।

मान विनयनाशक है। अभिमान और विनय का परस्पर विरोध है। जो अपने आपको लघु मानता है, वही विनय कर सकता है। मन वचन और काय-तीनों में नम्रता होना विनय का लक्षण है। मन में सुकोमल भाव हों, अहंभावना न हो, पापवृत्ति न हो। अपनी लघुता और अपूर्णता को समझना चाहिए। यह मन का विनय है। वाणी के द्वारा नम्रतापूर्ण भाव व्यक्त करना, दूसरों का सन्मान करना, सत्कार करना और हितरूप वाणी का प्रयोग करना वचन का विनय है।

विनीत पुरुष की वाणी कैसी होनी चाहिए यह बतलाने के लिए शास्त्र में वाणी के पाँच आभूषण बताये गये हैं। वाणी (१) सत्य (२) तथ्य (३) पथ्य (४) हित और (५) मित होनी चाहिए। यह वचन के भूषण हैं।

(१) सत्य—जो वचन बोला जाय वह झूठ न हो। जो वस्तु जैसी हो, उसे उसी रूप में प्रकट करने वाला वचन सत्य कहलाता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में सत्य का एक नाम 'वत्थु-वत्थु'

भी बतलाया गया है। सत्य वस्तु रूप है, अवस्तु रूप नही। किसी ने कहा–अमुक जगह जलाशय मे जल भरा है। यह वचन सुन कर श्रोता उस जगह गया। उसे उस जगह जल मिल गया तो यह वचन सत्य गिना जायगा, अन्यथा असत्य माना जायगा। अगर पानी की जगह कीचड़ भी न मिला तो सर्वथा असत्य गिना जायगा।

(२) तथ्य – जो वचन सत्य है, वह तथ्य भी होना चाहिए। कहा जा सकता है कि सत्य वचन तथ्य तो होता ही है, फिर उसे अलग कहने की क्या आवश्यकता पड़ी? मगर यह निश्चित नहीं कि जो वाणी सत्य है, वह तथ्य हो ही। इसे स्पष्ट समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। मुनि वन्दना करने वाले को 'दया पालो' या 'धर्मलाभ' कहते है। यदि उनके सामने कोई दर्शनार्थी उपस्थित हो और यह वचन कहा जाय तो तथ्य वचन गिना जाता है। यदि कोई भी सामने न हो और उस समय 'दया पालो, दया पालो ; धर्मलाभ, धर्मलाभ' कहा जाय, तो सत्य होने पर भी यह वचन तथ्य नही गिना जायगा। तात्पर्य यह है कि जब तक वाणी का अमल करने वाला कोई चेतनावान् व्यक्ति सामने न हो, तब तक वह वाणी सत्य होने पर भी तथ्य नहीं कहलाती। इसो अभिप्राय से सत्य से तथ्य को अलग कहा गया है। सत्य और तथ्य में अन्य प्रकार से भी अन्तर की विवेचना की जा सकती है, पर अधिक विस्तार में जाने के लिए अभी अवकाश नही है।

(३) पथ्य—सत्य और तथ्य होने पर भी वाणी पथ्य होनी चाहिए। जिस क्षेत्र, काल, देश, भाव और पात्र के लिए जो भाषा उपयुक्त हो, उसी का प्रयोग करना समुचित है। जैसे बीमार मनुष्य के लिए खोये के पेड़े और बाटियाँ उप-

युक्त नहीं हैं। उसकी नाजुक पाचनशक्ति इन वस्तुओं को पचाने में समर्थ नहीं होती। उसके लिए तो मूंग की दाल का पानी, गाय का दूध, ग्लूकोस आदि हल्के पदार्थ ही मुफीद हो सकते हैं। पूर्वोक्त गरिष्ठ पदार्थ भले ही बलवर्धक हों, तथापि बीमार के लिए वे हानिकारक ही सिद्ध होते हैं। जो वस्तु एक परिस्थिति मे ठीक होती है, वही परिस्थिति बदल जाने पर वे ठीक हो जाती है—दुर्गुणकारी बन जाती है। इस प्रकार पथ्य वह है जो परिस्थिति के अनुकूल हो। वाणी सत्य भी हो, तथ्य भी हो और साथ ही पथ्य भी होनी चाहिए।

(४) हितकारी—पूर्वोक्त तीन विशेषताओं से युक्त होने पर भी जो वचन हितकारी नही, वह बोलने योग्य नहीं हो सकता। वचन हितकारी होना चाहिए। वही वचन प्रशस्त माना जाता है। जो बोलने वाले और सुनने वाले—दोनों के लिए हितकर हो। संस्कृत में कहावत है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वच

कोई वचन हितकारी होता है पर मनोहर नहीं होता और कोई मनोहर होता है पर हितकारी नही होता। प्राय' एक न एक त्रुटि रह जाती है। वास्तव में ऐसा वचन दुर्लभ है जो सुनने पर मनोहर भी हो, चित्त को आनन्द और प्रसन्नता प्रदान करे और हित करने वाला भी हो।

कोई भी वाणी पूर्ण रूप से सुशोभित और सम्पन्न तब ही मानी जाती है, जब वाणी के सभी गुण उसमें विद्यमान हों। जैसा कि उक्त कहावत में कहा गया है, ऐसा वचन दुर्लभ अवश्य है, परन्तु अलभ्य नहीं है। जो सच्चे महात्मा लोग आत्मकल्याण के साथ संसार के कल्याण के लिए तत्पर हैं,

उनके वचन वाणी के सब आभूषणों से सम्पन्न होते हैं। जो अपनी वाणी को इन आभूषणो से युक्त नही रख सकता, समझना चाहिए कि वह संयम का पालन भी नहीं कर सकता।

(५) मित—सत्य, तथ्य, पथ्य और हितकर होने के साथ वचन मित-परिमित-मर्यादित बोलना चाहिए। निरर्थक अधिक वचन बोलना उचित नही है। ऐसा करने से असत्य का प्रवेश हो जाने की सम्भावना रहती है। अतिशयोक्ति हो जाने का भय रहता है। कम बोलना श्रावक का भी गुण बतलाया गया है। साधुओं को तो वचन का गोपन करने का विधान है। उनके लिए उत्सर्ग मार्ग यही है कि वे वचनगुप्ति को अपनाकर मौन धारण करें। मगर ऐसा करने से काम नही चल सकता। इससे उनकी आत्मा का कल्याण तो हो सकता है और कुछ अधिक ही हो सकता है, पर सङ्घ और शासन का कार्य ठप्प हो जायगा। सङ्घ और शासन की स्थिरता के बिना धर्म का टिकाव नही हो सकता। अगर मै मौन धारण करके अपनी आत्म-साधना में लग जाऊँ और अन्य साधु भी इसी प्रकार मौन-साधना मे लीन हो जाएँ तो सङ्घ की क्या स्थिति होगी, यह कल्पना करना कठिन नही है। अतएव भगवान् ने मुनियो के लिए दूसरा विधान किया है भाषासमिति का। मुनि बोल सकते है, मगर विवेक को नहीं भूल सकते। उन्हे विवेकपूर्वक, यतना के साथ परिमित वचनो का ही उच्चारण करना चाहिए।

परिमित वचन बोलने का अर्थ है—बिना प्रयोजन न बोला जाय और प्रयोजन होने पर जितना बोलना पर्याप्त हो, उतना बोला जाय। इस प्रकार परिमित बोलने की भी एक मर्यादा है। मैं आपके सामने व्याख्यान कर रहा हूँ। यदि मै कम

बोलू, ठहर-ठहर कर बोलूँ, तो इस अवसर पर ऐसा करना उचित नही गिना जायगा। अतएव जो बात या जो वस्तु जितना विवेचन माँगती है, उसके संबंध मे उतना ही बोलना मित भाषण करना कहलाता है। कोई-कोई श्रोता क्षयोपशम की मन्दता के कारण कम समझता है। उसे अनेक प्रकार से बोल कर समझाना पड़ता है।

बोलने वाली जिह्वा एक है और सुनने वाले कान दो हैं। अत. जिह्वा को सावधानी के साथ, परिमित—माप-तोल कर शब्दो का प्रयोग करना चाहिए, ताकि सुनने वाले दोनो श्रोत्र किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचें। अर्थ का अनर्थ न कर डाले। जो भी शब्द बोले जाएँ, सोच-विचार कर और परिमित बोलने चाहिएँ।

जिन वचनो से किसी की निन्दा हो, समाज, जाति, सम्प्रदाय, देश या विश्व में क्लेश उत्पन्न हो, किसी के चित्त को चोट पहुँचे, किसी के मन मे भय का सञ्चार हो, किसी का अपमान होता हो, या किसी भी प्रकार का अन्य अनर्थ हो सकता हो, जिन वचनों से हिंसा, असत्य आदि पापो को उत्तेजना मिले, धर्म की हानि हो, मिथ्यात्त्व की वृद्धि हो, उन वचनो का कदापि प्रयोग नही करना चाहिए।

हमारे समक्ष चाहे हमारा कोई मित्र हो या विरोधी हो, उसके प्रति सभ्य भाषा ही बोलनी चाहिए। उत्तेजना का प्रसङ्ग हो तो भी वाणी की सभ्यता और शिष्टता का परित्याग नहीं करना चाहिए। किसी के भी सामने और किसी भी प्रसङ्ग पर सभ्यता का त्याग करने से आदत खराब हो जाती है।

एक लखारा, जिसे मणियारा भी कहते हैं, एक बार अपनी

गर्दभी पर चूड़ियाँ लाद कर ग्रामान्तर जा रहा था। मार्ग मे वह 'चल मेरी माँ, चल मेरी वहिन' आदि शब्दो से संबोधित करता जा रहा था। किसी दूसरे राहगीर ने यह संबोधन सुने तो लखारे से कहा—क्या गधी को माँ-बहन कह रहे हो! क्या और कोई शब्द कहने को नही मिलते! दुनिया मे शब्दों का कोई टोटा नहीं है। फिर इस नीच पशु के लिए माता और वहिन जैसे आदरसूचक शब्द न बोलो तो क्या हर्ज है?

लखारे ने उत्तर दिया—सुनो भाई, वात यह है कि मैं चूड़ियो का धधा करता हुँ। चूड़ियाँ स्त्रियाँ पहनती हैं। मुझे दिन भर उनमें रहना पड़ता है। उन्ही से मेरा वास्ता पड़ता है। उन्हीं के साथ व्यवहार करना पडता है। अगर मैं गधी के लिए अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करूँ तो मेरी आदत खराब हो जायगी। फिर स्त्रियों के सामने भी भूल-चूक में अपशब्द निकलने लगेंगे। मैं बदनाम हो जाऊँगा और मेरी रोजी मारी जायगी।

यह एक साधारण-सी बात है, पर सारगर्भित है। इस कहानी से बहुत कुछ उपयोगी शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। कई लोग अपने नौकरो और नौकरानियों के प्रति हल्के और अपमानजनक शब्द बोलते हैं। वे इसमें अपनी शान समझते हैं, वडप्पन का अनुभव करते है। परन्तु सच्ची शान और सच्चा वड़प्पन इसमे नही है। यद्यपि वह नौकर है—उसके सिर पर नव कर हैं—नौ प्रकार के टेक्स लदे है, फिर भी उसमें चेतना है, वह भी मान-अपमान को अनुभव करता है। अतएव तुच्छता का व्यवहार करना योग्य नही है। नौकर के साथ तुच्छता से पेश आना अपनी ही तुच्छता प्रकट करना है।

तात्पर्य यह है कि वाणी पर नियन्त्रण रखना एक महत्त्वपूर्ण बात है। यह भी एक प्रकार का ऊनोदर तप है। ऊनोदर तप के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदर और भाव ऊनोदर। वस्त्र, पात्र एवं भोजन आदि द्रव्यो का कम उपयोग करना द्रव्य-ऊनोदर है और क्रोध, मान आदि कम करना भाव ऊनोदर है। शास्त्र में पद आते हैं—

'अप्प कोहे, अप्पमाणे, अप्पमाये, अप्पलोहे, अप्पझंझे, अप्प-कलहे अप्प सद्दे, अप्पतुमंतुमए।'

अर्थात्—अल्पक्रोधी, अल्पमानी, अल्पमायी, अल्पलोभी, अल्पक्लेशी, अल्पभाषी और तू-तू मैं मैं अधिक न करने वाला।'

यह सब भावतप के कार्य हैं। बाह्य ऊनोदरी का पालन अर्थात् भोजन आदि कम करना सरल है, परन्तु क्रोध, मान आदि विकारभावों को कम करना बड़ा कठिन काम है।

छद्मस्थ होने के कारण क्रोध की तरङ्ग आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु इन तरङ्गों को दबाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। उदीर्ण क्रोध को दबाना चाहिए, उपशान्त करना चाहिए। इसी प्रकार अभिमान करना भी अच्छा नहीं है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि उसके पास अभिमान करने योग्य वस्तु क्या है? कुछ भी तो नहीं। संसार में एक से एक उत्तम विद्यावान्, बुद्धिमान्, धनवान्, रूपवान्, ऐश्वर्यशाली, यशस्वी आदि विद्यमान हैं। उनकी तुलना में मेरे पास क्या है! मगर जो ऐसा न सोच कर अहङ्कार के वशीभूत हो जाते हैं उन्हें एक न एक दिन नीचा देखना ही पड़ता है।

सर नहीं ऊंचा कभी रहते सुना अभिमान का।
अपने ऊपर ही है पड़ता, थूका हुआ आसमान का॥

यदि कोई मनुष्य आकाश पर थूकना चाहे तो यह उसकी नादानी है। अरूपी आकाश पर थूक का कुछ भी असर नही पड़ता। वह थूक उलटा थूकने वाले के मुँह पर ही आकर गिरता है। जो दूसरो को नीचा दिखाना चाहता है, उसे स्वयं नीचा देखना पडता है। पर्वत पर चढ़ा हुआ मनुष्य नीचे देखता है तो उसे नीचे फिरने वाले मनुष्य छोटे छोटे दिखाई देते हैं। मगर उन्हे छोटा देखने वाला वह मनुष्य यह नही जानता कि नीचे वाले उसे कितना छोटा देखते है! यह तो बराबर की बाजी है। दूसरों को तुच्छ समझने वाला स्वयं तुच्छ समझा जाता है। वास्तव में अभिमान करने का परिणाम अच्छा नही होता। रावण का दृष्टान्त सामने है। पाटिया मे लगी हुई कील यदि ऊँचा मुख करती है तो उसी पर हथौड़ा पड़ता है। वह हथौडा तब तक पड़ता रहता है, जब तक वह अपना सर नीचा नही कर लेती। आखिर सेर को सवा सेर मिलता ही जाता है।

अभिमान के कारण बाहुबली को केवल ज्ञान न हो सका। घोर तपश्चरण करते हुए भी वह कैवल्य प्राप्ति करने में सफल न हो सके। जब अभिमान गला तो उसी समय उनकी आत्मा अनन्त उज्ज्वलतम आलोक से उद्भासित हो उठी। इसी से समझ लीजिए कि अभिमान आत्मिक विकास का कितना प्रबल प्रतिरोधक है!

सनत्कुमार चक्रवर्ती को रूपाभिमान की बदौलत सात सौ वर्षों तक कुष्ट रोग भोगना पड़ा और हरिकेशी को कुलाभिमान के कारण भङ्गी के घर में जन्म लेना पडा।

इसी प्रकार माया की भी ऊनोदरी करनी चाहिए। पारस्प-

रिक व्यवहार मे छल-कपट को स्थान न देकर निश्छलता को प्रश्रय देना चाहिए। सब के साथ निष्कपट व्यवहार करने वाले का अन्त करण सरल और शुद्ध होता है। जो शुद्ध अन्त.करण वाला है, उसी के चित्त में धर्म का वास होता है।

लोभ को कम करना लोभ की ऊनोदरी है। लोभ आत्मा का जबर्दस्त दुश्मन है और अनेक अनर्थों का जनक है। कहा है—

जनकः सर्वदोषाणां, गुणग्रसनराक्षसः।
कंदो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः॥

लोभ समस्त दोषों का जनक है। कोई ऐसा पाप नही, जिसे लोभी न करता हो। यही नहीं, लोभ सब गुणों को चट कर जाने वाला राक्षस है और नाना प्रकार के सङ्कटों तथा मुसीबतों रूपी बेल का मूल है। वह सभी अर्थों का बाधक है।

समझदार और विवेकवान लोग कभी लोभ के फंदे में नहीं फँसते। वे सोचते हैं—

चक्रेशकेशवहलायुधभूतितोऽपि,
सन्तोष मुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति।
तृप्ति विना न सुख मित्यवगम्य सम्यक्,
लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति धीराः॥

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष यह सोचते हैं कि जिस मनुष्य के चित्त में सन्तोष नही है, उसे कदाचित्, चक्रवर्ती, वासुदेव या बलदेव का वैभव प्राप्त हो जाय तो भी तृप्ति होने वाली नही है। और जहाँ तृप्ति नही है, वहाँ सुख भी नहीं है। ऐसा जान कर वे लोभ रूपी ग्रह के अधीन नही होते।

ऐसे निर्लोभ मनुष्य ही सतोष रूप अमृत का पान करते हैं और तृप्ति के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ प्रत्येक अवस्था मे ही हानिकारक होते हैं। मगर जब धर्म के क्षेत्र में इनका प्रवेश होता है तब तो गजब ही हो जाता है।

मैंने अभी जिक्र किया है कि वे आचार्य महाराज उस श्रावक का प्रश्न सुन कर क्रुद्ध हो उठे। बोले–तुम साधुओ से मजाक करते हो! हमारी हँसी उड़ाते हो? क्या तुम नही जानते कि साधु सचित वनस्पति और जल का स्पर्श तक नही करते? स्नान नही करते और अग्नि का सङ्घट्टा नही करते? जैन श्रावक कहला कर ऐसी मूर्खतापूर्ण बात कहते हो!

श्रावक ने नम्रता से कहा—महाराज! आपने ही अपने मुख-कमल से इतनी देर तक स्नान, पूजन तथा पुष्प चढ़ाने आदि की बड़ी महिमा गाई है। उसका अनुसरण करके, भक्ति से प्रेरित हो कर यदि मैं आपका अभिषेक और पूजन करूँ, और आप पर पुष्प चढ़ाऊँ तो क्या बाधा है? इसे आप हँसी क्यों समझते हैं?

आचार्य महाराज ने कहा—साधु को यह वस्तुएँ नही कल्पती?

श्रावक बोला--महाराज! जब ये वस्तुएँ आपको भी नही कल्पती तो आपसे भी उच्च संयमवान् यथाख्यात चारित्री अरिहन्त भगवान् को कैसे कल्प सकती हैं? जरा आप ही विचार कीजिए। प्रत्येक कार्य में विचार और विवेक की आवश्यकता तो होती है न?

कोई गरीब तुम्हारे घर पर आता है तो तुम खुशी से उसे

देते हो, परन्तु यदि कोई तुम्हारे घर में डाका डालने की नीयत से आया हो तो क्या उसका दूध-चाय से स्वागत करोगे ?

'नहीं !'

अगर कोई तुम्हारे समाज को लूटने के इरादे से आया हो तो ?

'नहीं !'

इसी प्रकार दान के सबंध में भी विचार की आवश्यकता है। मैं दान का विरोधी नहीं हूँ और न मेरी यही मान्यता है कि साधु के सिवाय दूसरे को दान देने से पाप लगता है। मैं तो दान का समर्थक हूँ ; परन्तु धर्म के लुटेरो से सावधान रहना चाहिए।

जैसा पात्र हो, वैसी ही उसकी पूजा हो तो लोक में भी अनुचित नहीं समझा जाता। जो जिस सत्कार-सन्मान का पात्र नहीं है, उसे वह सन्मान-सत्कार देना किसी भी दृष्टि से योग्य नहीं है। इससे न तो सन्मान-सत्कार करने वाले का ही भला होता है और न उसी का कल्याण होता है जिसे वह सन्मान-सत्कार दिया जाता है। यही नहीं बल्कि दोनों का अहित होता है। यदि स्थानकवासी साधु भी धर्म से भ्रष्ट हो गया है तो उसे भी साधु के योग्य सन्मान देना उचित नहीं है। उसे सन्मान देना साधु-पद का अपमान करना है और उसकी भ्रष्टता का परोक्षरूप मे अनुमोदन करना है।

सम्यक्त्व के पाठ मे उल्लेख है—'वावण्ण कुदंसणवज्जणाय,' अर्थात्—जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो गया है और जो मिथ्यादृष्टि है, उसकी सङ्गति से बचना चाहिए। खोटा तो खोटा ही

है, चाहे वह अपना हो या पराया हो। अपनी छाछ खट्टी तो भी मीठी और दूसरे की छाछ मीठी तो भी खट्टी; यह मतान्धता है, पक्षपात है, सङ्कीर्ण मनोवृत्ति है। जहर जहर ही है, अपना हो या पराया, वह मार डालता है। अतएव मनुष्य को अपने-पराए का विचार न करके बुराई और भलाई का विवेक करना चाहिए।

हाँ, तो बात यह थी कि जैसे आकाश में फूल लगना संभव नही है, उसी प्रकार आत्मा की सत्ता को स्वीकार किए बिना अध्यात्म शास्त्र निराधार है, उसकी अन्य बातें टिक नहीं सकती।

आत्मा नित्य है, अजर है, अमर है। उसकी न आदि है और न अन्त है। सातवें नरक की घोरतर वेदनाएँ और निगोद की मूर्छनाएँ भी उसका अन्त नहीं कर सकती। इन्द्रियाँ बनती हैं और बिगड़ती है। इन्द्रियों के अनुसार प्राणों की संख्या भी न्यूनाधिक होती है; मगर आत्मा का विनाश नहीं होता।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। कर्म रूप आवरण से वह आच्छादित रहती है, किन्तु जब आवरण हट जाते हैं, तो वह शक्तियाँ अपने असली स्वरूप में चमक उठती हैं। सम्पूर्ण शक्तियों का सम्पूर्ण विकास होना ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा को परमात्मा की संज्ञा प्राप्त होती है।

कई दर्शनों की मान्यता है कि परमात्मा अनादिनिधन है। वह एक—अद्वितीय और विभु अर्थात् व्यापक है। आत्मा मुक्त तो हो सकता है, परन्तु परमात्मा नहीं बन सकता। परमात्मा का पद तो उस एक नित्य परमात्मा ने अपने लिए ही रिजर्व कर लिया

है। किसी दूसरे को वह प्राप्त नहीं हो सकता। मगर जैनदर्शन की यह मान्यता नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार जिनेन्द्र देव स्वयं साधना करके परमात्मा बने और उन्होंने दूसरे आत्माओं को भी परमात्मा बनने का पथ बतलाया। इस तरह जैनधर्म आत्मा को परमात्मा बनाने वाला धर्म है। यह उसकी एक बड़ी विशेषता है।

आतम में अनन्ती शक्ति है,
यह परमातम बन सकती है।
गुरु पृथिवीचंद अमर होना,
बतला दिया वीर जिनेश्वर ने,
दया धरम का डंका आलम में,
बजवा दिया वीर जिनेश्वर ने॥

भगवान् ने हमें बतला दिया है कि आत्मा, परमात्मा बन सकता है। उन्होंने अपने उपदेश से भी और आदर्श से भी बतला दिया है। परमात्मा बनने का राजपथ हमारे सामने है। उस पर चलना अथवा न चलना आपका काम है।

जैन-धर्म का अध्यात्मशास्त्र अतिशय गूढ़ और परिपूर्ण है। आत्मा है, वह एक भव से दूसरे भव में जाकर पुनर्जन्म धारण करता है, उसमें अन्य द्रव्यों की अपेक्षा क्या-क्या विशेषताएँ हैं, कितनी और कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, किस विधि से उन शक्तियों का विकास होता है, विकास की पूर्णता होने पर आत्मा का क्या स्वरूप रहता है और कहाँ तथा कितने काल तक वह रहता है, आदि-आदि आत्मा संबंधी समस्त प्रश्नों पर तर्क-सङ्गत विवेचन किया गया है। इनमें प्रत्येक विषय बहुत व्यापक है और सब मिल कर तो अत्यन्त ही व्यापक बन

जाते हैं। अतएव यहाँ उनकी सूचना-मात्र दे देना ही पर्याप्त है। आत्मतत्त्व के जिज्ञासु जनों को इन सब मुद्दों पर विचार करना चाहिए। ज्ञानी जनों का सत्सङ्ग करके समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जो भद्र पुरुष अध्यात्म के सत्य स्वरूप को समझ कर तदनुसार व्यवहार करेंगे, वे तीन जगत् के नाथ, अनन्त ज्ञान और आनन्द के धनी परमात्मा बन जाएँगे।

जो परमात्मा के गुण गाएगा, अमर हो जायगा।

राजकोट
२६-७-५४

: ९ :

अध्यात्मवाद

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त ।

जिनवाणी के रसिक भद्र पुरुषो !

कल बतलाया गया था कि सच्चे सुख के अभिलाषी मुमुक्षु पुरुषों को एक बात नहीं भूलना चाहिए। वह क्या है ? आत्मा ! मुमुक्षुओं को सर्व-प्रथम आत्मवादी होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि मुमुक्षु का अर्थ है मुक्ति का इच्छुक और मुक्ति आत्मा की होती है। जो आत्मवादी नहीं हैं, अर्थात् आत्मा का पुनर्भव नहीं मानता, वर्त्तमान जीवन के साथ ही आत्मा का अन्त मानता है, उसके लिए मुक्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। श्री आचाराङ्गसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा है कि इस ससार में अनेक जीवों को यह बोध नहीं होता कि मैं किस दिशा या विदिशा से आया हूं। मेरा आत्मा भवान्तर करने वाला है अथवा नहीं ? किन्तु जो इस तथ्य को जानता है, अर्थात् आत्मा का पुनर्जन्म मानता है, वही वास्तव में लोक-वादी, आत्मवादी और कर्मवादी होता है।

तथ्य यह है कि अपने स्वरूप से आत्मा सिद्ध के समान होने पर भी वर्त्तमान मे कर्मबंधन से आवद्ध है और इसी कारण ससार के चक्र मे परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण में उसे

नाना प्रकार की वेदनाएँ और व्यथाएँ सहनी पड़ रही हैं। वह अपने अपरिसीम स्वाभाविक ऐश्वर्य से वंचित हो रहा है। अनन्त शक्तियो का स्वामी होकर भी रङ्क-सा बना हुआ है। निर्मल होकर भी मलीन है। इसका एक मात्र कारण कर्मबंधन है। अतएव कर्मबंधन से छुटकारा पाना है।

मगर आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किए बिना न बंधन की उपपत्ति होती है और न मोक्ष की। जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है, क्योकि बन्ध और मोक्ष दोनो एकाधिकरणक हैं। वह बन्धन मे पडने वाला और छुटकारा पाने वाला कौन है? आत्मा।

आत्मा को पहचाने बिना आगे का सारा खेल व्यर्थ हो जाता है। एतदर्थ ज्ञानियो ने सर्व ज्ञेय पदार्थों मे आत्मा को मुख्य और प्रथम स्थान प्रदान किया है। जैनधर्म मे तत्त्वो की गणना करते समय पहला जीवतत्त्व गिनाया है। जिसने आत्मतत्त्व को नही समझा, उसका जीवन ही निष्फल माना गया है। कहा भी है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो बहुनामरूपः।
तपःसमाधौ कलितो न येन,
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥

अर्थात्—जिसने सुखस्वरूप तथा ज्ञानमय आत्मस्वभाव को तप रूप समाधि का सेवन करके नहीं जान पाया, उस मनुष्य का जीवन निष्फल चला गया।

केवल जैनदर्शन ही नहीं, वैदिक दर्शन भी यह बात कहता है और आत्मतत्त्व को प्रधानता देता है। कहा है —

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो रे अयमात्मा ।

अर्थात्—अरे ससार के लोगो ! यह आत्मा ही श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन करने योग्य है।

आचारांग सूत्र मे इससे भी अधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूण शब्दो में कहा गया है :—

जो एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।

अर्थात्—जो एक आत्मतत्त्व को जानता है, वह सभी-कुछ जान लेता है। पूर्णरूप से आत्मा का ज्ञान हो जाने पर जगत् में कुछ भी ज्ञातव्य शेष नही रह जाता।

इस प्रकार आत्मज्ञान की महत्ता का जो प्रतिपादन किया गया है सो अर्थशून्य नही है। इसका एक विशेष कारण यह है कि आत्मा ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है। आत्मभिन्न अन्य तत्त्व ज्ञेय तो है, मगर ज्ञाता नही। जब आत्मा अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को जानता है तब वह ज्ञाता होता है और जब अपने आपको जानता है तब ज्ञेय हो जाता है।

आत्मा का यह द्विरूप सामर्थ्य ही उसे अन्य तत्त्वों से भिन्नता और महत्ता प्रदान करता है। यही कारण है कि समग्र साधना का लक्ष्य और साफल्य आत्मज्ञान ही स्वीकार किया गया है। जीवन का चरम पुरुषार्थ आत्मज्ञान की परिपूर्णता में ही विश्रान्त होता है।

वास्तव मे आत्मा को जानने में ही ज्ञान की सार्थकता है। आत्मज्ञान ही प्रयोजनभूत ज्ञान है। आत्मज्ञान के अभाव में अन्य ज्ञेय पदार्थों को जान लेने पर भी कल्याण नही हो सकता। इस सत्य को समझने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नही। आजकल के भौतिकविज्ञान को ही लीजिए। भौतिकविज्ञान

का इस युग मे तीव्रगति के साथ विकास होता चला जाता है। इतने अद्भुत आविष्कार हो रहे हैं कि उनका हाल सुनकर साधारण मनुष्य को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। मगर ज्यो ज्यो यह विज्ञान बढ़ रहा है, त्यो-त्यो मानव-जाति का सुख नहीं बढ़ रहा है। यही नही, जीवन दुःखमय होता जाता है। ससार के समझदार लोग चिन्तित हो रहे हैं कि कहीं ऐसा न हो कि यह भौतिकविज्ञान रूपी महाभूत मानवीय सभ्यता का सर्वनाश कर डाले। जनता भी व्यस्त है, परेशान है, अशान्त है। इस परिस्थिति का मूलकारण आत्मज्ञान का ह्रास होना ही है। आत्मज्ञान के साथ भूतविज्ञान की वृद्धि होती तो वह खतरनाक न होता। आत्मज्ञान उसमें कल्याण-कर्ता का समावेश करता चला जाता। उसे नियन्त्रण में रख सकता है। पर ऐसा नही हो रहा है। दुनिया आत्मतत्त्व और उसके ज्ञान की उपेक्षा कर रही है। अध्यात्मवाद से हट कर परमाणुवाद की तरफ अधिकाधिक प्रयाण कर रही है। इस-प्रकार आत्मा सम्बन्धी विश्वास कम हो जाने से ही दुःखपरम्परा की दिनो दिन वृद्धि होती जा रही है।

इस रहस्य को भारतवर्ष के तत्त्ववेत्ताओ ने भली-भाँति समझ लिया था। इसी कारण उन्होंने आत्मतत्त्व को समझने और उस पर विश्वास करने पर बल दिया है। श्रीदशवैकालिक सूत्र मे भी आत्मा को जानने की प्रेरणा की है, क्योंकि जीव तत्त्व को समझे विना श्रेय और अश्रेय का विवेक नही हो सकता।

श्रीदशवैकालिक सूत्र का आपको संक्षेप मे परिचय करा दूँ। यह सूत्र श्रीशय्यभव सूरि ने अपने गृहस्थावस्था के नव-दीक्षित पुत्र को साधु-जीवन के आचार-विचार से परिचित

कराने के लिए सरल, सुबोध और मनोहर शैली मे बनाया है। इस सूत्र में दश अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में धर्म की उदार परिभाषा, महिमा और मुनिजीवन की निःसंगता बतलाई गई है। दूसरे अध्ययन मे संयम पर दृढ़ रहने के लिए, रथनेमि और राजुल का दृष्टान्त देकर कामभोगों की अभिलाषा का निवारण करने की शिक्षा दी गई है। तीसरे में साधु को न आचरण करने योग्य कार्य अर्थात् अनाचीर्ण बतलाये गए है। चौथे अध्ययन मे षट्जीवनिकाय का बोध कराया गया है। पाँचवें अध्ययन के दो उद्देशक हैं और दोनो में आहार-पानी की विशुद्धि के नियम बताये गए हैं। छठे मे अठारह अकल्पनीय बातों का विवरण दिया गया है। सातवें मे भाषा संबन्धी नियम, आठवे मे आचार, नौवें में विनय और दशम अध्ययन मे सच्चे भिक्षु के लक्षण प्रतिपादित किये गए है।

दशवैकालिक सूत्र साधुओं और साध्वियो के लिए सर्वप्रथम पठनीय है। इसको पढ़ लेने से साधुजीवन की चर्या का भली-भाँति बोध हो जाता है।

दूसरे अध्ययन में राजुल-राजीमती और रथनेमि का संक्षिप्त सम्वाद वर्णित है। एक उच्च कुल में जन्मा हुआ योगनिष्ठ साधक पुरुष भी किस प्रकार मोह के वशीभूत होकर अपना असली स्वरूप भूल जाता है, इसका चित्रण है। आत्मा को जानना सरल कार्य नहीं है। मोहराज उसे जानने नहीं देता। जिस प्रकार सुरा से अभिभूत होकर मनुष्य अपना भान भूल जाता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी मोह के नशे में अपने आपेको भूल जाता है।

रथनेमि राजकुमार थे। विपुल ऋद्धि के स्वामी थे। भोग

और उपभोग के समस्त साधन उनको सरलता से सुलभ थे। भला कृष्ण वासुदेव के भाई को किस वस्तु का अभाव हो सकता है? मगर उनका मोह उपशान्त हुआ, जिससे उन्हे संसार से उपराम हो गया। भोगोपभोग की समस्त सामग्री तथा पचास सुन्दरी आज्ञाकारिणी और विनीता स्त्रियों को त्याग कर संयम स्वीकार किया। वे नगर और ग्राम के गन्दे वातावरण से परे हट कर गिरनार पर्वत के विशुद्ध वातावरण में चले गये। पर्वत की एक गुफा मे प्रवेश करके ध्यान मे लीन हो गए। निसर्ग के मनोमुग्धकारी अनूठे दृश्य उनके चित्त को न चुरा सके, क्योकि उनकी अन्तर्दृष्टि बाहर की ओर न होकर अन्तरमुखी थी। वे आत्मा के अद्वितीय और असाधारण सौन्दर्य को निरखने और परखने में निमग्न थे। उनके लिए वह सौन्दर्य इतना मनोभिराम था कि विश्व की समग्र सौन्दर्य राशि भी उसके सामने नगण्य थी। तब भला वे उस मधुरतम अनुभूति को त्याग कर दूसरी जगह क्यो सौन्दर्य के लिए भटकते?

रथनेमि आत्मिक शक्तियों को पहचानने का प्रयत्न करने लगे। उनकी साधना चल रही थी। मोहराज का उपशम था, अत वे अपने आप से, अपने आपका अर्थात् अपने निज स्वरूप का स्थिरतापूर्वक पता लगाने लगे।

इसी बीच एक आकस्मिक घटना घटित होती है। सती-शिरोमणि राजीमती भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ गिरनार पर्वत पर जाती हैं। मार्ग मे वर्षा हो जाने के कारण वह उसी गुफा में जाकर ठहरती हैं, जिसमे रथनेमि मुनि ध्यानस्थ बैठे थे। सती ने एकान्त निर्जन भूप्रदेश देख कर अपने भीगे हुए वस्त्र उतार कर सुखा दिये। सहसा विद्युत् चमक उठी और

उसके प्रकाश में सती का वह स्वरूप देख कर रथनेमि की सोई हुई वासनाएं जागृत हो उठी। जो मोह उपशान्त अवस्था में था, वह उदय मे आगया। मोहराज मैदान में आ कूदा। रथनेमि के मेरू की तरह अडोल मन को उसने झकझोर दिया। रथनेमि चचल हो उठे।

भद्र पुरुषो! मोह आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यह अत्यन्त प्रवल है। मोह के सामने बड़े-बड़े हार खा जाते हैं। ज्ञानियों का ज्ञान, ध्यानियों का ध्यान और अनुष्ठान-कर्त्ताओ का अनुष्ठान—सब इसके सामने हाथ टेक देते हैं।

आठो कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। जब तक उसकी सत्ता बनी रहती है, वह किसी भी कर्म को नष्ट नही होने देता। मोहकर्म का क्षय होने पर ही अन्य तीन घातिक कर्मों का क्षय होता है। यही सब कर्मों का सबल सेनापति है। ज्यों ही इस सेनापति का पतन होता है, अन्य कर्मो की जड़ खोखला हो जाती है। शीघ्र ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म नष्ट हो जाते हैं। इन कर्मों के क्षय से आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य प्रकट हो जाता है। तदनन्तर चार अघातिकर्म ही शेष रह जाते हैं, जिनका आत्मा पर कोई विशेष विघातक प्रभाव नही रह जाता। यह अघातिकर्म जली हुई रस्सी के समान होते हैं, जिनमे आकृति और ऐंठन-मात्र होती है, मगर जो कार्यकारी नही होते। जली रस्सी बन्धन रूप नही होती, उससे किसी को बाँधा नहीं जा सकता और वह साधारण से पवन के झोंके से उड़ जाती है।

हाँ, तो जब मोह के सैन्यदल—राग-द्वेष और विषय-कामना आदि ने रथनेमि के चित्त पर आक्रमण किया तो वह

अपने आपको सँभालने में समर्थ न हो सका। रथनेमि टिक न सके। वह भग्नचित्त हो गये। उनकी संचित साधना, वासना के ज्वार का, कामना के उभार का प्रतीकार करने में अक्षम हो गई। जो सिंह था वही गीदड़ बन गया। चेतना का धनी वासना का गुलाम बन गया। वह शेर की तरह घर से निकले थे, अब सियार के समान बन गए।

चार प्रकार के अनगार बतलाए गये हैं—(१) शेर की तरह दीक्षा अङ्गीकार करने वाले और शेर की तरह ही उत्कृष्ट मनोबल से जीवन पर्यन्त उसे निभाने वाले। (२) शेर की तरह दीक्षा लेने वाले किन्तु बाद में हीन मनोबल होकर सियार की तरह पालने वाले। (३) सियार की तरह दीक्षा अङ्गीकार करने वाले, परन्तु सिंह की तरह पालने वाले और (४) सियार की तरह दीक्षित होने वाले और सियार की तरह ही पालने वाले।

कई लोग दीक्षा अङ्गीकार करते समय संदेहशील रहते हैं। वे यह सोचकर भयभीत होते हैं कि हम साधुजीवन में आने वाले उपसर्गों और परिषहों को सहन कर भी सकेंगे या नहीं? परन्तु जब दीक्षित हो जाते हैं और शास्त्राध्ययन करते हैं तो उनकी वीर्यशक्ति जागृत हो जाती है। डट कर कष्टों और संकटों का सामना करते हैं। जैसे छोटा बच्चा आहार करता है तो उसकी शरीरवृद्धि के साथ शारीरिक बल की भी वृद्धि होती है, उसी प्रकार ज्ञान-बल से परिषह-आदि सहन करने की आत्मशक्ति बढ़ जाती है।

साधु भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद, आरम्भ में बालक ही होता है। शास्त्रकारों ने दीक्षा अङ्गीकार करने को दूसरा जन्म बतलाया है। 'अगाराओ अणगारे जाए' अर्थात् जो गृहस्थी

मे था, वह अब अनगार रूप में जन्मा। इसी प्रकार पहली वार अपनी माता की कुक्षि से और दूसरी वार साधु रूप से जन्म लेने के कारण साधु द्विजन्मा कहलाता है। पक्षी भी द्विजन्मा है, क्योंकि प्रथम वार वह अपनी माता के उदर से और दूसरी वार अडे से वाहर निकल कर जन्म लेता है। ब्राह्मण भी द्विजन्मा कहलाता है—

जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेद् विप्रः, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

प्रत्येक मनुष्य जन्म से शूद्र रूप में ही उत्पन्न होता है। जब उसके यज्ञोपवीत, विद्याध्ययन आदि सस्कार किये जाते हैं, तब वह द्विज कहलाता है। जब वेद पढ़ता है तव विप्र और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तव ब्राह्मण कहा जाता है।

जाति की कोई गिनती नही है। वेद अर्थात् शास्त्र को पढ़ने वाला और ब्रह्म अर्थात् आत्मतत्त्व को जानने वाला ही ब्राह्मण है। जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जन्म के समय ब्राह्मणत्व आदि की कोई विशेषता किसी व्यक्ति मे नही पाई जाती। मनुष्य का कर्म अर्थात् क्रिया ही उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति मे गिना जाने का कारण है। शास्त्र में कहा है :—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा हवई खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवई कम्मुणा॥

अर्थात्—कर्म मे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। जाति का अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं है। ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि नही हैं। सामाजिक सुविधा के उद्देश्य से उनकी कल्पना की गई है। जन्म के साथ उनका कोई सरोकार नहीं।

साधु द्विजन्मा सिद्ध हुआ। दीक्षा अङ्गीकार करके वह आपत्तियो, विपत्तियो, कष्टो, उपसर्गों और परिषहो का स्वागत करता है। वह ललकार कर कहता है—ऐ परिषहो! मै तुमसे पछाड़ खाने वाला नही। मैं तुम्हारे साथ लोहा लेने को तैयार हूँ। तुम जड़ हो, मै चेतन हूँ। मैं तुम्हारे सामने हाथ नही टेक सकता। मैंतुम्हारे ऊपर विजय प्राप्त करके ही रहूँगा, क्योंकि मुझमे अनत वीर्यशक्ति विद्यमान है। मैं अपनी शक्ति को पहचान नही सका था, इसी कारण तुमने अब तक मुझे क्षत-विक्षत किया। अब मै नही डरूँगा। मेरे पास ज्ञान का, विवेक का, चरित्र का अमोघ अस्त्र है।

परिषह और उपसर्ग आत्मा की शक्ति की वृद्धि के कारण बनते है, बशर्ते कि उन्हे वीरतापूर्वक सहन किया जाय। जैसे शाण पर चढ़ाया हुआ शस्त्र अधिक तीक्ष्ण होता है, उसी प्रकार सङ्कटो और कष्टो के साथ संघर्ष करने से, तनिक भी दीनता लाये विना जूझने से आत्मा का वल बढ़ता है। भगवान् महावीर का उदाहरण लीजिए। उन्होंने अपार कष्ट सहे, जब कष्ट आते न दिखे तो निमंत्रण देकर बुलाए और उनके साथ संघर्ष करके विजय प्राप्त की। परिणाम यह हुआ कि उनकी आत्मा मे अनन्त सामर्थ्य प्रकट हो गया। लौकिक दृष्टि से जिन लोगों ने बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त की हैं, जो महापुरुष करके कहलाए है, वे भी दु खो, कष्टों और अभावो का सामना ही। सुखशील और भोग विलास मे आसक्त जन कभी उल्लेखनीय महत्त्व नही पा सकते। मनुष्य जब अपनी क्षमता पर पूरी तरह विश्वास करता है और यह जान लेता है कि मैं इस बंधन को तोड़ कर फैक सकता हूँ, तो उसी समय उसके बंधन

ढीले पड़ जाते हैं और वह उन्हे तोड़कर स्वतंत्र—मुक्त हो जाता है। अतएव यह निश्चित है कि अपनी शक्ति का पता न रहना ही बंधन का प्रधान लक्षण है।

आपने रामायण की कथा सुनी होगी। जिस समय हनुमान, रावण के यहाँ गए, उन्हें नागपाश मे जकड़ दिया गया। परतु जब उन्हें भान हुआ कि मैं अपना बंधन तोड़ सकता हूँ, तुरत नागपाश को छिन्न-भिन्न करके मुक्त हो गए।

इस कथा का संबंध यह है कि रावण सीताजी का अपहरण कर ले गया, तब श्रीरामचन्द्र ने अपने सब हितैपियों को इकट्ठा किया और कहा कि सीता का पता लगाओ। राम के भक्त अनेक थे, परन्तु परीक्षा के समय हनुमानजी सबसे आगे रहे और पूरी तरह उत्तीर्ण भी हुए। चार प्रकार के बादल होते हैं—(१) गरजने वाले किन्तु न बरसने वाले (२) गरजने वाले भी और बरसने वाले भी (३) न गरजने वाले, मगर बरसने वाले तथा (४) न गरजने वाले, न बरसने वाले। इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। कई-एक कोरी बातों के धनी होते हैं। करते-कराते कुछ नहीं, खाली गाल बजाना जानते हैं। शेखी मारने में उनका कोई मुकाबिला नही कर सकता। कहा है—

कहते हैं करते नहीं, मुख के बडे लबार।
काला मुख तिन होयगा, साइं के दरबार॥
कथनी कथनी सहज है, करणी विष की लोय।
कथनी ज्यों करणी करे, विष भी अमृत होय॥

केवल कथनी करने वाले और करणी से कतराने वाले लोग ढपोरशंख कहलाते हैं। ढपोरशंख ने अपना परिचय देते हुए कहा था—

अहं ढपोरशंखोऽस्मि, वदामि न ददामि च।

मैं ढपोरशख हूँ। मुझसे कोई एक मोहर मांगे तो कहता हूँ—एक क्या दस लो। दस माँगे तो कहता हूँ—अजी, सौ लो। सौ माँगने पर हजार और हजार माँगने पर लाख देने के लिए कहता हूँ। मगर कहता ही कहता हूँ, देता-दिलाता फ़ूटी कौडी भी नही। ऐसे लोग बड़े खतरनाक होते हैं।

इन के विरुद्ध कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो राष्ट्र, समाज और सघ को ऊँचा उठाने के लिए निरन्तर उद्योगशील रहते हैं, परन्तु गर्जना-तर्जना नही करते। वे मूक सेवक कहलाते है। वे मूक सेवा के द्वारा अपने कर्त्तव्य को अदा करते हैं। हनुमानजी इसी कोटि के वीर सेवक थे। कार्य करना जानते थे, गाल बजाना नही।

रामचन्द्रजी ने सीता का पता लगाने की बात कही तो सब चुप रह गए। म्याऊँ का ठौर कौन पकड़े? कौन बैठे-बिठाए अपने माथे मुसीबत ले?

एक बार चूहों ने मिलकर सभा की। सभा में इस बात पर विचार किया गया कि बिल्ली मूषिकजाति की जन्मत शत्रु है। शत्रु भी साधारण नहीं, प्राणघातक है। उसे मार डालना चाहिए। तब जोश में आकर एक चूहे ने कहा—मैं उसकी एक टांग पकड लूँगा। दूसरे ने अपनी बहादुरी बघारते हुए कहा—तो मैं भी पीछे रहने वाला नही। मै दूसरी टाग पकड़ लूँगा। तीसरे ने कहा—तुम टांगे पकड़ लोगे तो मैं पूँछ पकड़ने में विलंब नही करूँगा। चौथा बोला—ठीक है, मैं उछल कर उस पर सवार हो जाऊँगा! यह सब सुन कर एक अनुभवी वृद्ध चूहे ने प्रश्न किया—यह तो तुम कर लोगे, परन्तु जब बिल्ली

मुँह खोल कर म्याऊँ-म्याऊँ करेगी, तब उसका ठौर—मुख कौन पकड़ेगा ? प्रश्न सुन कर सभी चूहे चुप रह गए। म्याऊँ का ठौर पकड़ने के लिए आहुति देने की किसी को हिम्मत नहीं थी। आखिर सभा यों ही बर्खास्त हो गई।

आज इस देश और समाज में बातूनी जमाखर्च करने वालों की कमी नहीं है। लोग जोशीला भाषण कर सकते हैं, श्रोताओं के हृदय को हिला देते हैं, गला फाड-फाड़ कर चिल्लाते हैं, नीति और धर्म की दुहाई देते-देते नहीं थकते, पर जब काम करने का अवसर आता है तो छिटक कर दूर जा खड़े होते हैं। आज सघ के श्रेय के लिए आहुति देने वाले कितने हैं ? धर्म की लगन किसको है ? जिसके अन्त करण में सच्ची लगन होगी, वह वाहर कार्य रूप मे आये विना नहीं रहेगी।

रामचन्द्रजी की वात सुनकर वज्रांग हनुमान सामने आये। बोला, 'आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए, मैं सीता का पता लगाऊँगा।' यह कह कर हनुमान रावण की लङ्का में गये। वहाँ वे उस अशोक-वाटिका मे पहुँचे जहाँ सीता वृक्ष के नीचे वैठी हुई थी। वहाँ पहुँच कर हनुमान ने देखा कि रावण, सीता को प्रलोभन देकर फुसलाना चाहता है और सत्य से गिराना चाहता है। मगर सती किसी मुलायम धातु की वनी नहीं थी, वह कठोर धातु से वनी थी। उसमें धर्म का तेज था, शील का प्रवल वल था। रावण के पशु-वल के सामने नतमस्तक हो जाने वाली अवला नहीं थी— प्रवला थी।

शील मे अपूर्व शक्ति है। भौतिक वल उसका सामना नहीं कर सकता। यही नहीं, शील की विस्मयोत्पादक शक्ति प्रकृति को भी पलट देती है। सीता को वह शक्ति प्राप्त थी। अतः

जिस रावण के सामने बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा थर्राते थे, उसके सामने वह निर्भय थी, बाल भर झुकने को तैयार नहीं थी। उसने रावण को ललकार कर कहा—अभिमानी रावण! तेरी तलवार मेरे भौतिक शरीर को खँड-खँड कर सकती है, परन्तु मेरे विचार को खंडित नही कर सकती, मेरे शील को खँडित नही कर सकती। मेरे अन्त करण मे शीलव्रत के लिए जो उच्च स्थान है, उसे तेरी तीखी तलवार नीचा नही खिसका सकती। तुझे अपनी सम्पत्ति और शक्ति का घमंड है, परन्तु मेरे ब्रह्मतेज के सामने वह तुच्छ है, व्यर्थ है। तेरी यह शक्ति ही तेरे घमँड को चूर करने का कारण बनेगी।

माताओ! क्या सुन रही हो? सती सीता तुममे से ही एक थी। उसका शरीर भी तुम्हारे शरीर की ही तरह सप्त धातुओं से बना था। मगर रावण जैसे अद्वितीय प्रतापशाली राजा के सामने वह वीरतापूर्वक डटी रही। उसकी तीव्र संकल्पशक्ति के सामने रावण की एक न चली। तुम भी सीता की बहन हो। अगर तुम्हारे मन मं वैसी ही दृढ़ता आ जाय तो तुम भी सीता बन सकती हो। मगर अच्छे खाने-पीने और ऐश-आराम के प्रलोभन मे पड़कर अपने शरीर का व्यापार करने वाली, धर्म को तिलांजलि दे देने वाली, बात-बात मे भयभीत होने वाली और अपने आपको अबला मानने वाली महिलाएँ सीता नहीं बन सकती। संस्कृत भाषा मे एक कहावत है—'बहुरत्ना वसुन्धरा' अर्थात् इस पृथ्वी पर अनेक रत्न हैं। इस कहावत के अनुसार आज भी इस धरातल पर और विशेषतः आर्यावर्त्त मे अनेक महिलाएँ मिल सकती हैं जो पतिव्रता, शीलरक्षिता और कुलमर्यादा का पालन करने वाली है, परन्तु सीता जैसी वीर नारियाँ कोई विरली ही होगी।

सीता ने रावण से कहा :—

लङ्का गढ में सती वो सीता, क्या कह कर ललकारी।
प्राण जाँय पर प्रण नहिं छोडूं, मैं हूँ जनक-दुलारी॥
सीया कह रही जी विपदा हनुमान से सारी॥ टेर॥

प्राण जाँय तो जाँय, पर शीलरक्षण का मेरा प्रण नहीं जा सकता। मुझे प्रण प्राणों से अधिक प्यारा है।

सीता को प्रलोभन देने और सत्यभ्रष्ट करने के प्रयास में रावण के साथ उसकी पत्नी मन्दोदरी भी शामिल थी। जैसा गदहा वैसा कुत्ता! गदहे का मुँह कुत्ते ने चाटा और कुत्ते का गदहे ने। गंगाजी किसको भेजे? दोनों बराबर हैं। दोनों की जोड़ी समान है।

सीता के पास एक ही कवच था, जिससे वह अपना रक्षण कर रही थी। वह कवच था शील। शील के सामने तलवार मोटी पड़ जाती है, सिंह का मुख बंद हो जाता है, पानी का प्रवाह रुक जाता है, समुद्र मार्ग दे देता है और अग्नि भी शीतल हो जाती है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा—
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते,
यस्यांगेऽखिल लोकवल्लभतर शील समुन्मीलति॥

शील समस्त लोक में अतीव वल्लभ होता है। जो व्यक्ति अखंड शील का पालन करता है, उसके लिए अग्नि पानी के समान बन जाती है, समुद्र साधारण सा गड़हा बन जाता है, सुमेरु छोटी सी शिला के समान बन जाता है, सिंह हिरण के समान आचरण करता है, सर्प पुष्पहार बन जाता है और विष अमृत का रूप धारण कर लेता है।

जिस शील मे ऐसी अद्भुत शक्ति है, उसे धारण करने वाला किसी के सामने कैसे झुक सकता है? सीता ने स्पष्ट कह दिया—मेरे सामने दो बाते हैं—शरीर की रक्षा करूँ अथवा शील की रक्षा करूँ ? पर इस प्रश्न का निर्णय मै कर चुकी हूँ। अपने शील की रक्षा के लिए मै शरीर की कुर्बानी कर सकती हूँ। मै शरीर की अपेक्षा शीलको महान् मानती हूँ। शील मेरी आत्मा की परम निधि है। इस निधि की रक्षा के लिए शरीर की बलि चढ़ा देना मेरे लिए महँगा सौदा नहीं है। मैं अपने आत्मा को और कुल को कलकित नही होने दूँगी।

भाइयो! जिसे अपने कुल की मर्यादा का भान होता है, कुल की लज्जा होती है, वह अनेक दुर्गुणो से बच जाता है। धर्मबुद्धि से शील का पालन करने से मुक्ति मिलती है, परन्तु यदि कुल की मर्यादा रखने के लिए भी शील का पालन किया जाय तो उसका भी उत्तम फल मिलता है। शास्त्र मे कहा है कि इच्छा बिना भी यदि शील पाला जाता है तो ६४ हजार वर्ष की देवायु प्राप्त होती है। इस प्रकार अकेले शील के आराधन से भी सुख की प्राप्ति हो सकती है, तो जो दान, शील, तप और भाव रूप चारो धर्मों की आराधना करेगा, उसे मुक्ति की प्राप्ति होने मं क्या सदेह और क्या आश्चर्य है?

सीता ने रावण को कुत्ते की तरह दुत्कार दिया। यह देखकर हनुमान जी को अतीव प्रसन्नता हुई। उसने वृक्ष पर से एक लिखित पत्र गिराया। उसमें राम-लक्ष्मण की प्रसन्नता के समाचार थे। पत्र पढ़ कर सीता के नेत्रो से प्रेमाश्रु निकल पड़े। सीता ने नियम ले रक्खा था कि जब तक राम और लक्ष्मण के कुशल-समाचार नही मिल जाएँगे, तब तक भोजन

ग्रहण नहीं करूँगी। पत्र से समाचार पाकर सीता आनन्दित हो उठी। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई कि पत्र कहाँ से और कैसे आ पहुँचा ?

सीता की दृष्टि हनुमान पर पड़ी। उन्होने हनुमान को सामने आने की आज्ञा दी। हनुमान ने चरण-वन्दना की। फिर कहा—मैं अंजनासुत हनुमान हूँ। रामचन्द्र जी की आज्ञा से आपकी खोज-खबर लेने आया हूँ। आप मेरे साथ चलिए। मैं आपको कंधे पर बिठला कर ले चलूँगा।

राक्षसो की इस नगरी मे अनेक प्रकार के छल-कपट की सम्भावना थी। सीता ने अनेक दृष्टियों से विचार किया। वह विश्वास न कर सकी कि यह व्यक्ति वास्तव मे रामचन्द्रजी का ही भेजा हुआ है। जब हनुमान ने रामचन्द्रजी की अँगूठी दिखाई तब सीता को विश्वास आया कि यह रामभक्त हनुमान ही है। फिर भी उसने कहा—मैं परपुरुष का स्पर्श नही कर सकती। अतएव तुम्हारे कंधे पर बैठकर नहीं चल सकती। इसके अतिरिक्त इस प्रकार जाना मेरी और तुम्हारे स्वामी की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। तुम्हारे स्वामी सब प्रकार से समर्थ हैं। वे आएँगे और मुझे ले जाएँगे। मुझे रघुनाथ का आसरा है।

राम नाम एक आसरा, बची जो जान हमारी।
नहिं तो कब की मरगई होती, सुनो वचन बलधारी॥

सीता कहती है—मैं राम के नाम से ही जिन्दा हूँ। राम ही मेरे सर्वस्व हैं। उनका सहारा न होता तो मैं जीवित भी न रहती। हनुमान! तुम यहाँ से जल्दी चले जाओ। रावण देखेगा तो पकड़ लेगा और दुःख देगा।

हनुमान ने गद्‌गद होकर कहा—माताजी, मेरी चिन्ता न करो। मैं पवन-पुत्र होने से गगन मे उड़ सकता हूँ। अँजना का अंगजात होने से आँख मे घुस सकता हूँ। लोग मुझे बजरंग कहते हैं—मेरे अँग वज्र के बने है। मैं महावीर हूँ, डरने वाला प्राणी नहीं। हाँ मुझे भूख लगी है।

सती का इशारा पाते ही हनुमान बगीचे के फल खाने लगा। उसने खाये कम, बिगाड़े बहुत। उद्यान रक्षकों ने फलों की रक्षा का प्रयत्न किया तो उनके नाक कान आदि काट लिये। बेचारे भागे-भागे रावण के पास पहुँचे। रावण ने बड़े-बड़े योद्धा भेजे। हनुमान ने उन्हे भी क्षत-विक्षत कर दिया। आखिर रावण ने इन्द्रजीत को भेजा। उसने आकर हनुमान को नागपाश मे जकड़ लिया। रावण के सामने पेशी हुई। रावण ने कहा—ऐ हनुमान! तेरे पुरखे तो राक्षसों के पक्ष में थे, तू क्यों रामचन्द्र के पक्ष मे चला गया? देख, तेरी क्या हालत हो गई है! रामचन्द्र बड़ा चालाक है। स्वयं न आकर मौत के मुख से तुझे भेजा है।

रावण की भेदनीति की बात सुनकर हनुमान के मन में रामचन्द्र के प्रति लेशमात्र भी दुर्भावना उत्पन्न नहीं हुई। प्रत्युत ताने भरे वचन सुनकर हनुमान को अपनी शक्ति का स्मरण हो आया। मैं महावीर हूँ और इस प्रकार बन्धन में जकडा हूँ? हनुमान ने अपनी आन्तरिक शक्ति का प्रयोग किया कि तुरन्त नागपाश के टुकड़े-टुकड़े हो गये। हनुमान ने बन्धनमुक्त होकर रावण के सिर में लात मारी और मुकुट को तोड़ डाला।

कथा मे बहुत आगे बढ़ गया हूँ। सारांश यह है कि आत्मा

को जब अपनी सहज शक्ति का भान हो जाता है, तब वह बन्धनों मे जकड़ा नहीं रह सकता।

रथनेमि आत्मभान भूल गये। उन्होंने राजुल के सामने भोगो की प्रार्थना की। मगर राजुल संयम में सुदृढ़ थीं। उन्होने रथनेमि से स्पष्ट कह दिया :—

जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण नल कुब्बरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइ सि सक्खं पुरंदरो॥
धिरत्थु तेऽजसो कामी, जो तं जीविय कारणा।
वंत इच्छसि आवेतुं, सेयं तं मरणं भवे॥

हे रथनेमि! यदि तू रूप मे वैश्रमण के समान है, लालित्य में नलकूवर के समान है और साक्षात् इन्द्र के समान है तथापि मैं तेरी इच्छा नहीं करती।

धिक्कार है रथनेमि! जो तू असयम जीवन के लिये वमन को पुन चाटने की अभिलापा करता है! अपयश के कामी! इससे तो यही अच्छा था कि तेरी मृत्यु हो जाती। असयम को अङ्गीकार करने की अपेक्षा मृत्यु को अङ्गीकार करना श्रेयस्कर होता है।

वीर नारी के कितने ओजस्वी शब्द हैं! क्या इस प्रकार के दृढ़ता से भरे हुए और प्रभाव से परिपूर्ण शब्द आत्मा पर श्रद्धा हुए बिना, आत्मविश्वास के अभाव में निकल सकते हैं। रावण जैसे अभिमानी और महाबली को दिया हुआ सीता का उत्तर और रथनेमि जैसे परमसुन्दर एवं बहादुर क्षत्रिय को सुनाई हुई राजीमती की यह फटकार इस बात के सजीव प्रमाण हैं कि यह आत्मा में से निकाली हुई अन्तर की आवाज है। आत्मवादी के सिवाय और किसके मुख से यह वाणी प्रस्फु-

टित हो सकती है ? भौतिकवादी मे इनका तेज और इतना ओज नही हो सकता। वह प्रलोभनों में फँस जाता है ! अतएव जीवन की परमार्थ सिद्धि के लिए अध्यात्मवाद का आश्रय लेने की परम आवश्यकता है।

पूर्वोक्त दोनों सतियाँ जैनधर्म की प्रसिद्ध साधिकाएँ हैं उनकी रग रग में अध्यात्मवाद का प्रभाव भरा था। उसी प्रभाव के कारण वे विपम परिस्थितियों मे भी अपने सङ्कल्प पर सुदृढ़ रह सकी और अपने ध्येय मे विजयी हुईं।

राजीमती के प्रेरक और कठोर शब्द सुन कर रथनेमि साव-धान हो गए। क्षण भर के लिए मोह की जो हिलोर आई थी, वासना का जो उफान आया था, वह शान्त हो गया। उन्होंने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप किया। रथनेमि ने पुन. सिंहवृत्ति धारण की। सुबह के भूले शाम को घर आ गए।

जिस दशवैकालिक सूत्र में यह सवाद वर्णित है, उसी मे यह भी निर्देश किया गया है :—

जो जीवं वि न याणेई, अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो, कह सो णाहीई संजमं ॥

अर्थात्—जो जीव को अर्थात् आत्मतत्त्व को नही जानता है, जो अजीव तत्त्व को भी नहीं जानता है, वह जीव और अजीव के सबध को भी नही जान सकता है। ऐसा व्यक्ति संयम को क्या जानेगा !

इस गाथा में शास्त्रकार ने सर्वप्रथम जीवतत्त्व को जानने की आवश्यकता पर बल दिया है। जीव को जाने बिना उसके अभाव रूप अजीव तत्त्व को जानना भी असंभव है। और इन मूलभूत तत्त्वों की अनभिज्ञता मे आगे के आस्रव संवर आदि

तत्त्व भी नही जाने जा सकते। इसी कारण नो तत्त्वों मे जीव को ही पहला स्थान दिया गया है। वास्तव मे जीव तत्त्व को समझे बिना, उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि लाये बिना आगे की सारी रचना वैसी ही है, जैसे बिना नीव का मकान।

आत्म-तत्त्व को स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता। आत्मा के अभाव में बंध किसे होगा? मुक्ति किसकी होगी? बध और मुक्ति के निमित्त से सुख दु ख की अनुभूति किसे होगी? यही नहीं, जो लोग आत्मा को स्वीकार नही करते, उनके मत के अनुसार आत्मा का निषेध करने वाला कौन है? जो आत्मा का निषेध करता है, वह आत्मा ही है। जड़ मे आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने की शक्ति नहीं हो सकती। जड़ मे चेतना का कभी प्रतिभास नही होता, किन्तु चेतना स्वानुभव-सिद्ध है। अत. चेतना गुण का आधार आत्मा भी सिद्ध है।

चैतन्य गुण का प्रत्यक्ष होना आत्मा का प्रत्यक्ष होना है, क्योकि चैतन्य आत्मा का ही स्वरूप है, और जब आत्मा का अस्तित्व मान लिया जाता है, तो उसे नित्य मानना भी अनिवार्य है। मुक्ति आत्मा की होती है। मुक्ति का अर्थ है—बधन का विश्लेष होना, अर्थात् छूटना। स्पष्ट है कि बधन उसी का छूटेगा जो बद्ध होगा। जो बद्ध नही है, उसका छुटकारा कैसा? अतः बंधन और मुक्ति—इन दोनो अवस्थाओ मे रहने वाला एक ही आत्मा स्वीकार किए बिना बंध-मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त हमें अतीत काल की, और किसी किसी को अतीत जन्म की स्मृति भी होती है। वह स्मृति भी आत्मा को नित्य माने बिना संभव नहीं। प्रत्येक जीव को वर्त्तमान काल मे सुख-दु:ख का जो अनुभव होता है, उसका प्रधान कारण उसके अतीत कालीन शुभ-अशुभ कर्म हैं। इस

सिद्धान्त को माने बिना सुख-दु ख की तर्कसङ्गत व्याख्या नहीं की जा सकती। और जब यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता है तो आत्मा को स्थायी तत्त्व स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता है। कर्म करने के साथ ही यदि आत्मा का विनाश हो जाय तो फल कौन भोगेगा ?

मगर आत्मा की नित्यता का अभिप्राय यह नहीं कि वह कूटस्थ नित्य है और उसकी अवस्थाएँ परिवर्त्तनशील नहीं है। आत्मा यद्यपि नित्य है, उसकी सत्ता का कभी समूल विनाश नहीं होता, तथापि उसकी हालतें निरतर बदलती रहती हैं। ऐसा न हो तो भी बंध, मोक्ष, सुख-दु ख का अनुभव, स्मृति आदि की उपपत्ति नही हो सकती। इसी कारण आत्मा परिणामी नित्य है। परिणामी नित्य का मतलब यह है कि आत्मा आत्मा के रूप मे नित्य होने पर भी पर्यायों-अवस्थाओं के लिहाज से अनित्य है।

इसी प्रकार आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझने वाला ही आत्मवादी या अध्यात्मवादी कहलाता है। अध्यात्मवाद पर विश्वास रखने वाले व्यक्ति का जीवन संयत बन जाता है। वह पाप से, अन्याय से, अधर्म से भयभीत रहता है और हित के मार्ग मे प्रवृत्त होता है। सच्चा आत्मवादी कभी अपने आत्मा, समाज, देश या जाति के अकल्याण में प्रवृत्त नही होता। उसका जीवन उच्च और पवित्र होता है। उसके आदर्श से भव्यता और दिव्यता की झलक होती है।

अध्यात्मवाद के विषय मे आजकल एक अपवाद सुनाई देने लगा है। कुछ लोग कहते हैं कि धर्म और अध्यात्मवाद स्वार्थपरायणता की शिक्षा देता है। किन्तु इस अपवाद का

आधार अध्यात्मवाद के वास्तविक स्वरूप की नासमझी है। जिसने भारत के आत्मवाद को ठीक तरह समझा होगा, वह इस अपवाद को हास्यास्पद ही समझेगा। यह सत्य है कि अध्यात्मवाद आत्मकल्याण को सर्वोपरि साध्य समझता है; किन्तु उस साध्य को सिद्ध करने के लिए जिन साधनों का विधान किया गया है, उनमें समाजवाद के सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को ही लीजिए। अध्यात्मवादी अपने आत्मा के कल्याण के लिए इन साधनों का प्रयोग करता है। किसी भी प्राणी को मन, वचन, काय से पीडा न पहुँचाना, पीड़ित की पीड़ा को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना, अर्थात् सेवा और परोपकार करना, झूठ बोल कर किसी को धोखा न देना, किसी की कोई वस्तु चुराकर उसे कष्ट या संताप न देना, दुराचार का सेवन करके सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति को भंग न करना, जीवननिर्वाह की सामग्री का इतना अधिक सचय न करना कि जिससे दूसरे लोग उससे वचित हो जाएँ और तकलीफ पाएँ, यह क्रमश. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। इनमें क्या समाजवाद के तत्त्वों का समावेश नहीं है ? इन व्रतों का पालन करने से क्या सिर्फ आत्मा का ही हित होता है ? समाज का हित नहीं होता ? बड़े से बड़ा समाजवादी भी इससे बढ़ कर और क्या समाज-कल्याण की बात कह सकता है ?

सच तो यह है कि सच्चा अध्यात्मवादी समाज और संसार का जितना कल्याण करता है, उतना अनात्मवादी कदापि नहीं कर सकता। अध्यात्मवादी के सामने आत्मकल्याण का उच्च ध्येय होता है, जिसकी सिद्धि के लिए वह ससार के हित मे

प्रवृत्त होता है। अनात्मवादी के सामने ऐसा कोई ध्येय नही होता। अतएव वह अपने जीवन को ऊँचा नही बना पाता। ऐसी स्थिति मे अध्यात्मवाद को स्वार्थपरायणता सिखाने वाला बतलाना अज्ञान का ही परिणाम है।

संसार मे आज जितने अशों मे शान्ति है, उसका श्रेय आत्मवाद को है। भविष्य में अगर दुनिया चैन से रहना चाहती है तो उसे अध्यात्मवाद का आश्रय लेना पड़ेगा। अध्यात्मवाद, समाजवाद का प्राण है। समाजवाद, अध्यात्मवाद के बिना कदापि सजीव नही हो सकता। अतएव दोनों के समन्वय से ही ससार मे शान्ति रह सकती है।

मगर आज हम क्या देख रहे हैं? जो भारतभूमि अध्यात्मवाद के लिए विख्यात है, जहाँ अध्यात्मवाद ने जन्म लिया, विकास किया और जहाँ से सारे ससार को अध्यात्मवाद का प्रांजल प्रकाश मिला, उसी के निवासियो में आज आत्मवाद के प्रति श्रद्धा कम होती जा रही है। विदेशियों के सम्पर्क से भारत का आध्यात्मिक दृष्टि से पतन हो रहा है। श्री विनोबा भावे ने 'हरिजनबन्धु' में एक लेख लिख कर राज्य के मुख्य अधिकारियो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि राजकर्त्ता पुरुषों को आत्मवादी होना चाहिए। उन्होंने भी यही लिखा है कि भारत की उन्नति—वास्तविक उन्नति—आधारभूत उन्नति तभी सभव है, जब उसके नेता आत्मवादी हो। अगर वे स्वय नास्तिक होंगे तो प्रजा मे उच्च भावनाओं का संचार नही कर सकते।

शक्ति का स्रोत आत्मा है। भारत ने संसार को यही सिखाया है। भारत के महापुरुष भगवान् महावीर की मूलभूत

शिक्षा यही है। वे कहते हैं—'जो आयावादी से लोयावादी।' अर्थात् जो आत्मवादी होगा, वही लोकवादी होगा, वही समाजवादी होगा।

भाइयो! अगर आप व्यक्ति (आत्मा) और समाज का सच्चा हित चाहते हैं तो आपको आत्मा की तरफ उन्मुख होना चाहिए। यही कल्याण का राजमार्ग है।

राजकोट,
२७-७-५४

विद्धि-विद्धि स्वतत्त्वम्

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त,
अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त भगवन्त।

भद्र पुरुषो और धर्म बहिनो !

कल आत्मा के विषय मे कुछ प्रकाश डाला गया था। वस्तुत आत्मा का विषय अत्यन्त गम्भीर, विचारणीय, मननीय और अनुभवनीय है। आप और हम स्वयं आत्मा हैं, अतएव आत्मा के स्वरूप को समझना अपने आपको ही समझना है। अपने आपको समझे बिना दूसरों को समीचीन रूप में नही समझा जा सकता और कदाचित् समझ लिया जाय तो भी वह निरुपयोगी है। इसी कारण आत्मज्ञान को मनुष्य-जीवन का महान् पुरुषार्थ माना गया है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसके लिए कुछ भी जानना शेष नही रहा और जिसे आत्मा का भान नहीं हुआ, उसका शेष समस्त ज्ञान, चाहे वह कितना ही विशाल, विशद और सूक्ष्म क्यों न हो, वृथा है। उससे मनुष्य का किंचित् भी कल्याण नही हो सकता। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आदि त्यागी जो कठिन साधना और तपश्चर्या करते हैं, उसका एक-मात्र ध्येय आत्मा को पहचानना ही है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साध्य है तो वह आत्मा को जानना ही है। इसी कारण अनुभवशील आचार्य प्रेरणा करते हैं —

विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।

अर्थात् आत्मतत्त्व को समझो, समझो।

वैदिक धर्म के ऋषि भी आत्मा को समझने की ही आवश्यकता प्रकट करते हैं और कहते हैं :—

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो रे अयमात्मा ।

अर्थात्—अरे जीव ! तुझे आत्मा को—अपने स्वरूप को श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और पुन-पुनः चिन्तन करना चाहिए।

इसी प्रकार समस्त आस्तिकवादी धर्म आत्मस्वरूप को समझने की प्रेरणा देते हैं और आत्मज्ञान की सर्वाधिक महत्ता प्रकट करते हैं। वास्तव में, इस जगत् में यदि कोई महान् से महान् उपयोगी कार्य है तो वह अपने स्वरूप को समझ लेना ही है।

किन्तु आत्मा, इन्द्रियगम्य नहीं है। इन्द्रियों की और मन की पहुँच स्थूल पदार्थों तक ही हो सकती है, भौतिक विषयों तक ही सीमित है। भौतिक साधनों द्वारा अरूपी पदार्थ को जानना शक्य नहीं है। आत्मा को तो आत्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है। आगम में भी कहा है :—

नो इंदिय गीज्भ अमुत्तिभावा ।

आत्मा अमूर्तिक है, अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, अतएव उसे इन्द्रियां द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों का विषय अत्यन्त परिमित है। स्पर्शेन्द्रिय सिर्फ स्पर्श को, रसनेन्द्रिय सिर्फ रस को, घ्राणेन्द्रिय सिर्फ गन्ध को और नेत्रेन्द्रिय सिर्फ रूप को ग्रहण कर सकती हैं और वह भी तब, जब वह व्यक्त हो।

आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप से सर्वत्र एक-सा होने पर भी उपाधि के भेद से दो प्रकार का है—(१) सशरीर और (२) अशरीर। शरीर नाम कर्म के उदय से जिसे शरीर की प्राप्ति हुई है, वह सशरीर कहलाता है। सशरीर आत्मा बाह्य चिह्न से जाना जा सकता है। आकुंचन और प्रसारण तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं द्वारा 'यह सजीव है' ऐसा बोध हो सकता है। किन्तु इस प्रकार का अनुमान भी द्वीन्द्रिय जीवो से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों तक के विषय मे ही किया जा सकता है। आकुचन-प्रसारण आदि क्रियाओं से एकेन्द्रिय जीवों की सत्ता स्पष्टतया अवगत नही होती। किन्तु जो आत्मा अशरीर है, वह केवल अनुभवगम्य है। उसे किसी भी क्रिया आदि के द्वारा नही जाना जा सकता।

आत्मा चेतनामय है, असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है, ज्योति स्वरूप है। इसका कोई रूप नहीं है। यह अरूपी है। हमे जो रूप दिखाई देता है, वह आत्मा का नही, शरीर का है। बहिरात्मा अज्ञानी लोग शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञ पुरुष दोनो की भिन्नता को भली-भाँति समझते हैं।

आत्मा स्वभाव से ही ज्ञाता है। यह अपने आपको भी जानता है और आत्मभिन्न इतर पदार्थों को भी जानता है। ज्ञान का यही स्वरूप है कि वह स्व और पर-दोनों को प्रकाशित करे। जैसे दीपक अपने प्रकाश-स्वभाव से अपने आपको भी प्रकाशित करता है और घट पट आदि अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक नही लाना पड़ता। वह स्वय ज्योतिर्मय है, अतएव अपने

को भी प्रकट कर लेता है और इतर पदार्थों को भी आलोकित कर देता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी अपने नैसर्गिक प्रकाश द्वारा निज का भी बोध कर लेता है और पर पदार्थों का भी। दीपक ही दीपक की ज्योति से अधिक से अधिक सन्निकट है; अतएव वह ज्योति अपने निकटतमवर्त्ती दीपक का सर्वप्रथम बोध कराती है। इतना अधिक निकटवर्त्ती अन्य कोई पदार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में दीपक की प्रभा यदि दीपक को ही सब से पहले प्रकाशित करती है तो इसमें क्या आश्चर्य है? यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में है। आत्मा ही आत्मज्ञान से सन्निकटतम है, अतएव वह सर्वप्रथम आत्मा का ही बोध कराता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि आत्मा को जानने के लिए ज्ञान की ही आवश्यकता है।

भारतवर्ष मत-मतान्तरों के लिए उर्वरा-भूमि है। यहाँ न जाने कितने मत और पन्थ उत्पन्न हुए हैं, कितने अतीत के गहन अन्धकार में सदैव के लिए विलुप्त हो चुके हैं और कितने आज भी विद्यमान हैं। जहाँ तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, परस्पर विरोधी अनेक मंतव्य विचारकों ने प्रकट किये हैं। ज्ञान के विषय में भी अनेक प्रकार की मान्यताएँ हैं। उनमें से कुछ का परिचय आपको दे दिया जाय तो अनुचित न होगा। वह इस प्रकार है:—

१—मीमांसक मत की मान्यता के अनुसार ज्ञान, दूसरे पदार्थों को तो जानता है, पर अपने विषय में सर्वथा अन्धा है, अर्थात् अपने आपको नहीं जानता। जैसे नेत्र अपने को नहीं देखता, वरन् दूसरों को ही देखता है, उसी प्रकार ज्ञान कितना ही उग्र और विशाल क्यों न हो, जब जानेगा तो दूसरों को ही जानेगा, अपने को नहीं।

२—किसी-किसी का मन्तव्य है कि एक ज्ञान, दूसरे ज्ञान से ही जाना जा सकता है, अपने आप से नहीं। ऐसी मान्यता न्याय-वैशेषिक दर्शन की है।

३—सांख्यदर्शन का कहना है कि ज्ञान जड़-प्रकृति का कार्य है, चेतनतत्त्व का नही।

४—बौद्धमत के अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्त्व नही है। विज्ञान-स्कन्ध एक स्वतन्त्र ही वस्तु है और वह भी क्षण-विनश्वर है।

५—जैन-सिद्धान्त का मन्तव्य ऊपर बतलाया जा चुका है। जैसे सूर्य या दीपक का प्रकाश स्व-परप्रकाशक है, उसी प्रकार ज्ञान भी। ज्ञान को जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती, जैसे दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नही होती।

इन सब मतों पर दार्शनिक ग्रन्थों मे विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। यहाँ विस्तृत आलोचना करने का अवकाश नहीं है, तथापि इतना कह देना आवश्यक है कि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, यह बात अनुभव-सिद्ध है और कोई भी तर्क उसे अन्यथा रूप में सिद्ध नही कर सकता है।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि दीपक स्वयं भी प्रकाशित होता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। अगर घर में दीपक न हो तो अन्धकार के कारण घर के सुखद पदार्थ भी दु खप्रद बन जाते हैं। आपके घर मे रेडियो है, बढिया पलग हैं, टेबिल है, कुर्सी है, और दूसरी-दूसरी सुखप्रद सामग्री है! परन्तु दीपक के अभाव मे उन वस्तुओं से आपकी टक्कर हो सकती है और आप जख्मी हो सकते हैं। इस प्रकार

भौतिक प्रकाश के अभाव मे भी जब सुखदायी सामग्री भी दु:खप्रद बन सकती है, तो भाव-प्रकाश, जिसे शास्त्रीय भाषा में ज्ञान कहते हैं, के अभाव में जीवात्मा कितना दु:ख पाता है, यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए।

आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण में इस प्रकार की गई है—'अतति—सततं ज्ञानदर्शनादिपर्यायान् गच्छतिइति आत्मा।' अर्थात् जो निरन्तर, समय-समय ज्ञान दर्शन आदि पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, वह आत्मा है। इसका आशय यह है कि एक भी क्षण ऐसा नहीं है, जब आत्मा अपने उपयोग-स्वभाव से शून्य रहता हो। वह सदा-सर्वदा बोध करता ही रहता है। यदि किसी समय आत्मा उपयोग रूप व्यापार से शून्य हो जाय तो उस समय वह चेतना-स्वभाव से रहित हो जायगा और जड़ बन जायगा। मगर ऐसा कभी नहीं होता। उपयोग आत्मा का स्वभाव है और जिसका जो स्वभाव होता है, वह उससे कदापि पृथक् नही हो सकता।

हाँ, यह नही भूल जाना चाहिए कि आत्मा जब तक कर्म-रूप उपाधि से युक्त है, तब तक उसकी स्वाभाविक शक्ति प्रकट नही हो पाती। उसकी चेतना का व्यापार भी बाह्य निमित्तों पर अवलम्बित रहता है। अतएव आत्मा की ज्ञानशक्ति में कभी मन्दता आ जाती है तो कभी प्रखरता भी आ जाती है। कभी स्पष्टता होती है तो कभी अस्पष्टता होती है। अनुकूल निमित्त का योग होने पर ज्ञानशक्ति तीव्र बन जाती है और प्रतिकूल निमित्त मिलने पर मन्द हो जाती है। मगर एक बात निश्चित है कि कैसी भी स्थिति क्यों न हो, आत्मा की ज्ञान-शक्ति का सर्वथा अभाव कदापि नहीं हो सकता।

कर्मों के कारण आत्मा की शक्तियों के विकास में तारतम्यता होती है। प्रत्येक आत्मा के कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, अतएव उनकी अवस्थाओं में भी भिन्नता पाई जाती है। समार म सब से अल्प विकास वाला जीव सूक्ष्म निगोद का है और अधिकतम विकास वाला केवल ज्ञानी है। सूक्ष्म निगोदिया और केवली- दोनों मे ज्ञान की मात्रा उपलब्ध होती है, परन्तु एक मे न्यूनतम मात्रा है और दूसरे में अधिकतम–परिपूर्ण है। यदि सूक्ष्म निगोदिया जीव की, अक्षर के अनन्तवे भाग जितनी प्रकट चेतना ज्ञानशक्ति भी नष्ट हो जाय तो वह अजीव बन जाए। किन्तु स्वभाववाद का यह अटल नियम है कि किसी भी सन् भाव का अर्थात् द्रव्य का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार आत्मा का या आत्मा के ज्ञान-गुण का विनाश होना सभव नही है। हाँ, उस पर आवरण आ सकता है और जब आवरण दूर हो जाता है तो ज्ञान-सूर्य के समान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार निश्चय नय से प्रत्येक जीवात्मा में अनन्त ज्ञान विद्यमान है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म का उदय होने से आत्मा का ज्ञान-गुण आच्छादित हो जाता है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वें मोक्षमार्ग अध्ययन मे जीव का लक्षण बतलाया है .—

जीवो उवओगलक्खणो !

उपयोग अर्थात् चेतना ही जीव का लक्षण है। उपयोग दो प्रकार का है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ! ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं और दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, केवलज्ञान तथा मति-

अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान, यह आठ ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, यह चार दर्शनोपयोग हैं।

यहाँ मति-अज्ञान आदि को ज्ञानोपयोग में सम्मिलित किया गया है, अत. यह शङ्का नही करनी चाहिए कि अज्ञान को ज्ञानोपयोग मे कैसे गिना जा सकता है ? क्योंकि यहाँ अज्ञान को अर्थ ज्ञान का अभाव नही लिया गया है, वरन् कुत्सित अर्थात् मिथ्या ज्ञान को अज्ञान कहा गया है। जैसे निषेध अर्थ मे नञ् समास होता है उसी प्रकार कुत्सित अर्थ मे भी होता है। यहाँ कुत्सित अर्थ में ही नञ् समास है। अतएव मति-अज्ञान भी उपयोग है और केवल ज्ञान भी उपयोग है। सूक्ष्म निगोरिया जीव में मति अज्ञान नामक उपयोग विद्यमान रहता है।

हाँ, तो आगम मे जीव का लक्षण उपयोग बतलाया गया है। लक्षण और लक्ष्य—दो वस्तुएँ हैं। जिसका लक्षण बतलाया जाता है, उसे लक्ष्य कहते हैं और जिस विशेषता के कारण वस्तु को पहचाना जाता है, उसे लक्षण कहते हैं। यहाँ जीव लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है।

लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं—आत्मभूत और अनात्म-भूत। आत्मभूत लक्षण वह है जो लक्ष्य से पृथक् न हो सकता हो। यह वस्तु की शुद्ध अवस्था का बोध कराता है। अनात्मक-भूत लक्षण लक्ष्य से पृथक् भी हो सकता है। वह सांयोगिक है, अनित्य है और बनने तथा बिगड़ने वाला है।

भद्र पुरुषो ! मैं जिस विषय का प्रतिपादन कर रहा हूँ, वह बड़ा गम्भीर है और महत्त्वपूर्ण भी है। समझने में भले आपको नीरस प्रतीत हो, मगर समझ लेने के पश्चात् अत्यन्त आनन्द-

दायक हो जाता है। भला अपने आपको समझ लेने से बढ़ कर इस ससार मे और क्या सुखदायी हो सकता है। अतएव आप लोग रसपूर्वक ध्यान लगा कर सुनें। यह कोई राजा-रानी की कथा नही है। जैसे दुकानदारी मे आप मनोयोगपूर्वक लगते हैं, वैसे ही एकाग्र हो कर सुनेगे तो कुछ समझ मे आएगा। आप लोगों को तत्त्वज्ञान विषयक जानकारी बहुत साधारण है, अतएव सूक्ष्म विषयों की विवेचना से आप ऊब जाते हैं। यहाँ ऊँची दुकान और फीके पकवान वाली बात चरितार्थ होती है। राजकोट का नाम बहुत बड़ा है। गादी तो गोंढल मे है, फिर भी केन्द्रीय सरकार यहाँ है। सम्प्रदाय के सचालन की बागडोर यहाँ वालो के हाथ मे है। नाम भी है—मोटा सङ्घ ! घर भी बहुत—करीब दो हजार हैं। भवन भी मोटा है। सब बाते मोटी हैं, परन्तु जानकारी 'नानी' है।

राजकोट-सघ पर बड़ा उत्तरदायित्व है। यह सौराष्ट्र का केन्द्रस्थल है। अतएव समग्र सघ की रक्षा की जिम्मेवरी आप लोगों के ऊपर है। यहाँ शालाएँ चलती हैं और शिक्षणालय भी चलते हैं; परन्तु उनसे हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होता। आपको सदैव स्मरण रखना चाहिए कि आप सौराष्ट्र के स्थानकवासी समाज के नौका के कर्णधार हैं।

तो मैं आत्मा की बात कह रहा था। श्री आचारांग सूत्र में 'आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी और क्रियावादी' ये चार विषय बतलाये हैं और चौमासे के चार ही महीने हैं। इन चार विषयो मे महान् सार गर्भित है। गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। परन्तु श्रोताओं की जानकारी एवं ग्रहणशक्ति का मापदण्ड देख कर मुझे रुकना पड़ता है। बाइयों को खास तौर से रास

सुनने का शौक है। मैं बहुत से रास सुना चुका हूँ। रास सुनाते सुनाते बाल सफेद हो गए हैं। अब इस विषय में रस नहीं रहा। आप सब को भी अपनी रुचि को परिवर्तित करना चाहिए और तत्त्वज्ञान की ओर आकर्षित होना चाहिए।

मैं तत्त्वज्ञान के विषय में बहुत कुछ सुनाना चाहता हूँ, परन्तु चाहिए उसे ग्रहण करने और धारण करने वाला श्रोता। सागर में पानी बहुत है, पर पात्र चाहिए। मेरे सामने ऐसे श्रोता हैं जिनकी योग्यता का स्तर समान नहीं है। अगर मैं गहराई में उतरता हूँ तो बहिनें और साधारण जानकारी वाले श्रोता, जिनकी संख्या अधिक है, वंचित रह जाते हैं। व्याख्यान के लिए यह एक बड़ी कठिनाई है। अस्तु,

आत्मा का लक्षण उपयोग बतलाया गया है। जैसे उपयोग आत्मा का आत्मभूत लक्षण है, वैसे ही धर्मास्तिकाय आदि का भी आत्मभूत लक्षण होता है। चाहे जड़ हो या चेतन, प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना आत्मभूत लक्षण पृथक् पृथक् होता है। प्रत्येक वस्तु का वह धर्म, जो उसके सिवाय दूसरे में न पाया जाता हो, उसका लक्षण माना जाता है।

गुण या धर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। जो गुण सभी पदार्थों में समान रूप से पाये जाते हैं, वे सामान्य गुण कहलाते हैं, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशवत्व आदि। किन्तु जो गुण सब में न पाये जाकर केवल किसी खास वस्तु में ही पाये जाते हैं। वे विशेष गुण कहलाते हैं—जैसे ज्ञान, दर्शन और सुख आत्मा के ही विशेष गुण हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पुद्गल में ही पाये जाने के कारण उसी के विशेष धर्म हैं। इसी प्रकार अवकाशदान आकाश का ही गुण है।

इस प्रकार द्रव्य का विशेष गुण ही उसका लक्षण है, जो उसी मे पाया जाता है, दूसरे में नहीं। उसी विशेष गुण या लक्षण से उस द्रव्य की पहचान होती है।

अनात्मभूत लक्षण पदार्थ के वाह्य भाव को प्रकट करता है। इस लक्षण का लक्ष्य के साथ तादात्म्य सम्वन्ध नही होता। अनात्मभूत लक्षण, लक्ष्य से अपना पृथक् अस्तित्व रखता हुआ उसकी प्रतीति कराता है—जैसे किसी पुरुष का लक्षण चश्मा या दण्ड वतलाना। चश्मा और दण्ड किसी विशिष्ट पुरुष का बोधक हो सकता है। अनेक विना चश्मे के हों और उनमे एक चश्मा वाला हो तो वह चश्मा उस पुरुष की पहचान का हेतु वन जाता है। यह अनात्मभूत लक्षण है।

आत्मा जब अशुद्ध होता है, मोह से ग्रसित होता है, उसमे काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष, ईर्षा, निन्दा चुगली आदि का धूम्र होता है, तब वह कालिमा फैलाता है। खुद भी काला वनता है और दूसरों को भी कालिमा लगाता है। प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थान तक मोहनीय कर्म की तीव्रता-मन्दता के परिणाम के अनुसार न्यूनाधिक परिमाण में धूम्र-विकार विद्यमान रहता है। जब ग्यारहवे गुणस्थान मे मोह का उपशम हो जाता है अथवा बारहवे गुणस्थान में क्षय हो जाता है, तब धूम्र वंद होता है।

अग्नि मे से निकला हुआ धूम्र वाहर फैल कर वस्तुओं को काला वना देता है। इसी प्रकार आत्मा मे से निकले हुए मोह-जनित विकार या विभाव परिणाम भी केवल उसी आत्मा को काला नहीं वनाते जिसके वे विभाव हैं, किन्तु अन्य मानवों को भी हानि पहुँचाते है। एक के द्वारा छोड़े हुए अशुद्ध विचार

के गोटे दूसरों पर असर किए बिना नहीं रहते।

आत्मवादी व्यक्ति अपनी कषायपरिणति को काबू में करने का भरसक प्रयत्न करता है। वह कषायों के धूम्र को भीतर ही भीतर शान्त या नष्ट करने की सतत चेष्टा करता रहता है। जब वह उपशान्तमोह या क्षीणमोह हो जाता है, तब धूम्र बंद हो जाता है। एक बार उपशान्त हुआ मोह भी कालान्तर में निमित्त मिलते ही पुनः उदय में आ जाता है और फिर धुआं छोड़ना आरंभ कर देता है। क्षीण मोह पुनः उद्भूत नहीं होता। एक बार मोह का पूर्ण क्षय हो जाता है तो फिर कभी उसका प्रादुर्भाव नहीं होता। अतएव क्षीणमोह होना ही जीवन का अन्तिम ध्येय है, जिससे सदा के लिए कषायों की जड़ कट जाय। पुनः यह विषवल्ली पनपने न पावे। जो बीज दग्ध हो जाता है, वह कभी उग नहीं सकता। इसी प्रकार एक बार कषाय का जब पूर्णरूपेण क्षय हो जाता है तो फिर उसका बंध नहीं होता। कषाय सभी अन्यान्य विकारों का जनक है। अतएव कषाय के नष्ट हो जाने पर अन्य विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

उपयोग आत्मा का लक्षण है। अन्यत्र उपयोग के अतिरिक्त वीर्य को भी जीव का लक्षण कहा है। वीर्य तीन प्रकार का है—(१) पण्डित वीर्य (२) बालपंडित वीर्य (३) बालवीर्य। पण्डित वीर्य छठे गुण स्थान से प्रारंभ होकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। बालपण्डित वीर्य पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक में पाया जाता है। जिसका प्रयत्न धर्म और कर्म दोनों के लिए होता है। श्रावक अपनी वीर्यशक्ति का उपयोग धर्मसाधना के लिए भी करता है और गृहस्थी संबंधी उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए, सांसारिक कर्तव्यों का

पालन करने के लिए भी करता है। जो जीव सम्यक्त्व से रहित हैं, अथवा सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी आचरण में तदनुकूल परिवर्तन नही कर सकते ऐसे अव्रती जीव बालवीर्य के धनी हैं।

प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक के जीव कृतवीर्य हैं। उनमें मानसिक, वाचिक या कायिक कोई न कोई क्रिया होती ही है। चतुर्दशम गुणस्थान में भी वीर्य होता है। वीर्य के दूसरी अपेक्षा से दो भेद हैं—एक करण वीर्य और दूसरा लब्धिवीर्य। शैलेशी-अवस्था को प्राप्त चौदहवें गुणस्थान-वर्ती जीव से अकृतवीर्य अथवा लब्धिवीर्य होता है। सिद्ध आत्मा अवीर्य हैं। जो सिद्धि प्राप्त करनी थी, वह वे प्राप्त कर चुके हैं। जो स्व-पर के कार्य की साधना करता है वह साधु है। सिद्धों के लिए कोई भी साधना शेष नही रही है।

यहाँ यह आशका हो सकती है कि अभी-अभी आपने वीर्य को आत्मा का आत्मभूत लक्षण बतलाया है, जो अपने लक्ष्य से पृथक् नही हो सकता। और अब कहा जा रहा है कि सिद्धो मे वीर्य नही होता। इस परस्पर विरोधी वक्तव्य का अभिप्राय क्या है?

इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो तीन प्रकार के वीर्य बतलाये गये हैं, वे पुद्गल-सापेक्ष हैं। अर्थात् उक्त तीनों वीर्यों का प्रयोग आत्मा पुद्गलो का आधार लेकर करता है। सिद्ध आत्मा का पुद्गलो के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, अतएव ये वीर्य सिद्धो मे नही पाये जाते। किन्तु शुद्ध आत्मवीर्य, जो आत्मा का ही निज स्वभाव है, सिद्ध परमात्मा मे भी विद्यमान होता है। वह वीर्य अनन्त वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली अनन्त वीर्य लब्धि सिद्धो मे

यह जैनो का स्याद्वद है, अपेक्षावाद है, अनेकान्तवाद है। यह जैन धर्म की विशेषता है, असाधारणता है। वस्तुदर्शन के सम्बन्ध में जैनधर्म की अपूर्व शैली है। इस शैली के आधार पर ही जैनधर्म यह विधान करता है कि जिस आकाश-प्रदेश मे एक आत्मा का एक प्रदेश समाया है, उसी आकाश-प्रदेश में अनन्त आत्माओ के अनन्त प्रदेश समाये हुए हैं। आत्मप्रदेश अरूपी हैं। अरूपी वस्तु किसी का प्रतिघात नहीं करती—किसी के समावेश मे रुकावट नही डालती और फिर अरूपी वस्तु के समावेश मे तो रुकावट की सभावना भी नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में एक ही आकाशप्रदेश मे अनन्त आत्म प्रदेशों का समाविष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मगर तथ्य तो यह है कि रूपी पुद्गल-परमाणु भी अनन्त सख्या मे, एक ही आकाश प्रदेश में समा सकते हैं। जब पुद्गल-परमाणुओं का स्कध सूक्ष्म रूप में परिणत होता है, तब एक परमाणु के स्थान मे अन्य अनेक परमाणु भी समा जाते है। इसी को नदी नालों का समुद्र में प्रवेश होना कह सकते हैं। परन्तु केवल ज्ञानियों के सूक्ष्म ज्ञान से सब की जुदा जुदा प्रतीति होती है—सब स्वतन्त्र पृथक-पृथक् प्रतिभासित होते हैं। यह एक मार्हा अनेकक हैं।

शंका—जिस जगह एक वस्तु है, उसी जगह दूसरी अनेक वस्तुएँ रह सकती हैं, यह बात कोई उदाहरण देकर समझाइए?

उत्तर—हजार या लाख औषधियाँ कूट-पीस कर उन्हें एकमेक कर लिया जाय और चूर्ण बना लिया जाय तो वह चूर्ण सुई की नोंक पर लिया जा सकता है। सुई की नोंक पर जो चूर्ण है, उसमें सब औषधियों का तत्त्व है। यह तो स्थूल पुद्गलों का दृष्टाँत है। परन्तु परमाणुओं का बना अनन्त

प्रदेशी स्कध सूक्ष्म परिणाम मे परिणत होकर एक आकाश प्रदेश मे रह सकता है। जब अनन्त पुद्गल भी एक प्रदेश मे रह सकते है तो अरूपी आत्मप्रदेशो का एक जगह रहना क्या आश्चर्यजनक है? उनके एक दूसरे को बाधा पहुँचाने का प्रश्न ही नही उपस्थित होता।

एक आकाशप्रदेश मे अनन्त जीवों के अनन्त प्रदेश समा सकते हैं, परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि एक जीव के असख्यात प्रदेश एक आकाश प्रदेश मे नहीं समा सकते। इसका कारण समझने का प्रयत्न कीजिए।

संसारी जीव की अवगाहना कम से कम भी अंगुल के असख्यातवे भाग जितनी होती है। संसारी जीव सशरीर ही होता है—कभी किसी भी अवस्था मे शरीररहित नही हो सकता। सर्व जघन्य अवगाहना वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव है, जिसकी अगुल के असख्यातवे भाग की अवगाहना है। अगुल के असंख्यात भाग जितने आकाश मे असंख्यात प्रदेश होते हैं। अतएव वह सूक्ष्म निगोद का जीव भी अपने रहने के लिए असख्यात आत्मप्रदेशों को रोकता है। यही कारण है कि आकाश के एक प्रदेश मे सम्पूर्ण असख्यात-प्रदेशी जीव नहीं समा सकता।

रही सिद्धों की बात। सो सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अवगाहना अन्तिम शरीर से त्रिभागन्यून होती है। उसके लिए भी असख्यात आकाश-प्रदेश अपेक्षित हैं। इस प्रकार अशरीर जीव भी एक प्रदेश मे नहीं रहते। सिद्धों की अवगाहना जघन्य एक हाथ आठ अंगुल की, मध्यम अवगाहना चार हाथ सोलह अगुल की और उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ धनुप तथा

यह जैनो का स्याद्वद है, अपेक्षावाद है, अनेकान्तवाद है। यह जैन धर्म की विशेषता है, असाधारणता है। वस्तुदर्शन के सम्बन्ध में जैनधर्म की अपूर्व शैली है। इस शैली के आधार पर ही जैनधर्म यह विधान करता है कि जिस आकाश-प्रदेश मे एक आत्मा का एक प्रदेश समाया है, उसी आकाश-प्रदेश में अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रदेश समाये हुए हैं। आत्मप्रदेश अरूपी हैं। अरूपी वस्तु किसी का प्रतिघात नहीं करती—किसी के समावेश मे रुकावट नही डालती और फिर अरूपी वस्तु के समावेश म तो रुकावट की सभावना भी नही की जा सकती। ऐसी स्थिति में एक ही आकाशप्रदेश में अनन्त आत्म प्रदेशों का समाविष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मगर तथ्य तो यह है कि रूपी पुद्गल-परमाणु भी अनन्त सख्या मे, एक ही आकाश प्रदेश मे समा सकते हैं। जब पुद्गल-परमाणुओं का स्कध सूक्ष्म रूप में परिणत होता है, तब एक परमाणु के स्थान में अन्य अनेक परमाणु भी समा जाते हैं। इसी को नदी नालों का समुद्र में प्रवेश होना कह सकते हैं। परन्तु केवल ज्ञानियों के सूक्ष्म ज्ञान मे सब की जुदा जुदा प्रतीति होती है—सब स्वतन्त्र पृथक पृथक् प्रतिभासित होते हैं। यह एक माहीं अनेक है।

शंका—जिस जगह एक वस्तु है, उसी जगह दूसरी अनेक वस्तुएँ रह सकती हैं, यह बात कोई उदाहरण देकर समझाइए?

उत्तर—हजार या लाख औषधियाँ कूट-पीस कर उन्हें एकमेक कर लिया जाय और चूर्ण बना लिया जाय तो वह चूर्ण सुई की नोक पर लिया जा सकता है। सुई की नोक पर जो चूर्ण है, उसमें सब औषधियों का तत्त्व है। यह तो स्थूल पुद्गलों का दृष्टांत है। परन्तु परमाणुओं का बना अनन्त

प्रदेशी स्कन्ध सूक्ष्म परिणाम मे परिणत होकर एक आकाश प्रदेश मे रह सकता है। जब अनन्त पुद्गल भी एक प्रदेश मे रह सकते है तो अरूपी आत्मप्रदेशो का एक जगह रहना क्या आश्चर्यजनक है ? इनके एक दूसरे को बाधा पहुँचाने का प्रश्न ही नही उपस्थित होता।

एक आकाशप्रदेश में अनन्त जीवों के अनन्त प्रदेश समा सकते हैं, परन्तु ध्यान मे रखना चाहिए कि एक जीव के असंख्यात प्रदेश एक आकाश प्रदेश मे नहीं समा सकते। इसका कारण समझने का प्रयत्न कीजिए।

संसारी जीव की अवगाहना कम से कम भी अंगुल के असख्यातवे भाग जितनी होती है। संसारी जीव सशरीर ही होता है—कभी किसी भी अवस्था मे शरीररहित नही हो सकता। सर्व जघन्य अवगाहना वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव है, जिसकी अगुल के असंख्यातवे भाग की अवगाहना है। अगुल के असंख्यात भाग जितने आकाश मे असंख्यात प्रदेश होते हैं। अतएव वह सूक्ष्म निगोद का जीव भी अपने रहने के लिए असंख्यात आत्मप्रदेशों को रोकता है। यही कारण है कि आकाश के एक प्रदेश में सम्पूर्ण असख्यात-प्रदेशी जीव नही समा सकता।

रही सिद्धों की बात। सो सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अवगाहना अन्तिम शरीर से त्रिभागन्यून होती है। उसके लिए भी असख्यात आकाश-प्रदेश अपेक्षित हैं। इस प्रकार अशरीर जीव भी एक प्रदेश मे नही रहते। सिद्धों की अवगाहना जघन्य एक हाथ आठ अगुल की, मध्यम अवगाहना चार हाथ सोलह अंगुल की और उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ धनुष तथा

३२ अगुल की होती है। आकाश का कार्य अवगाहना देना है। आकाश का एक प्रदेश अपने भीतर एक से लेकर अनन्त प्रदेशों को भी स्थान दे सकता है। संसारी जीव का शरीर संकोचन अंगुल के असंख्यातवे भाग से कम नही हो सकता, क्योंकि उसके साथ तीन शरीर लगे हुए हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस और कार्मण। अन्तराल गति मे जब औदारिक या वैक्रिय शरीर नही होता, तब भी तैजस और कार्मण शरीर तो रहते ही हैं। इस प्रकार कोई भी जीव किसी भी अवस्था में क्यों न हो, वह आकाश के असंख्यात प्रदेशों में ही अवगाढ़ हो सकता है।

जैसे आकाश के एक प्रदेश में अनन्त आत्मप्रदेश और परमाणु समाये हुए हैं, वैसे ही एक आत्मा मे अनन्त गुण विद्यमान हैं और एक एक गुण मे अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। आत्मा के अनन्त गुणों में से चेतना भी एक गुण है।

चेतना दो प्रकार की है—साकार चेतना और निराकार चेतना। ज्ञान साकार चेतना है और दर्शन निराकार चेतना। ज्ञान के भेदों में मतिज्ञान के अनन्तानन्त पर्याय हैं और श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के भी अनन्तानन्त पर्याय हैं, किन्तु इन सब में तारतम्य होने से न्यूनाधिकता रही हुई है।

यह सब सूक्ष्म ज्ञान की बातें हैं, जो एकाग्रता, चित्तशान्ति तथा क्षयोपशम आदि गुणों के होने पर आत्मा में टिक सकती हैं और विकास कर सकती हैं।

यह सारे ज्ञान आत्मा में हैं। आत्मवादी ही इतने विशाल परिमाण में आत्मस्वरूप को समझता है। इस प्रकार उपयोग

और वीर्यरूप लक्षण भावलक्षण हैं, जिन्हें आत्मभूत लक्षण भी कहते हैं।

आत्मा का बोध गति, जाति, इन्द्रिय और शरीर आदि से भी होता है। किन्तु यह द्रव्यबोध गिना जाता है। आकुंचन. प्रसारण, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओं से भी जीव का ज्ञान होता है, किन्तु यह द्वीन्द्रिय आदि जीवों तक सीमित है। एकेन्द्रिय जीवों मे उपयोग रूप लक्षण ही घटित होता है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म चेतनावान् है। यह सब बाते आगमगम्य तो हैं ही, अनुमानगम्य भी है।

एकेन्द्रिय. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियपन तो जीव की विभावदशा की परिणति है। स्वाभाविक परिणति ज्ञान स्वरूप और आनन्दस्वरूप ही है।

जब रोगी को रोग का भान हो जाता है, वह जान लेता है कि मुझे अमुक प्रकार का रोग है, तब वह वैद्य के पास पहुँचता है। मगर वैद्य कैसा होना चाहिए? जो अन्धा लूला और बहिरा न हो, रोगी का रोग देख सकता हो, सुन सकता हो और रोगी को कुछ हिदायतें दे सकता हो। इसी प्रकार हमारी आत्मा मे मोह-रोग लगा है। ज्ञानी गुरु के पास पहुँचने से वह इस रोग को मिटाने का उपाय बता सकता है। अतएव ज्ञानी गुरु की खोज करना आवश्यक है।

मोह रूपी महारोग जब हल्का पड़ता है, तब आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा का अनुभव परम सुख का जनक है। सुख अन्यत्र कहीं नही है, वह आत्मा मे ही है। अगर आत्मा में सुख न होता तो बाह्य पदार्थो से सुख की अनुभूति असंभव होती। मगर अन्तर्दृष्टि बनने से ही आत्मा का भान और

आत्मीय सुख का भान हो सकता है। जब तक जीव बहिर्दृष्टि बना रहता है, तब तक उसे आत्मा में विद्यमान सुख का आभास नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह अपने आपको पहचाने, आत्मा के स्वरूप को समझे और उसके विकास के लिए साधना का मार्ग अपनावे। साधना के बिना आत्मभान और आत्म विकास नही हो सकता। ऐसा समझ कर जो साधना करेंगे, वे परमानन्द की प्राप्ति करने मे समर्थ हो सकेंगे।

राजकोट
ता० २८-७-५४